प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८, बनारस

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Banaras.
1954
(तृतीयं संस्करणम्)

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१



समर्पणम्

स्वस्ति श्री श्री १०८ श्री उत्कलप्रान्तान्तर्गत
खड़ियालधराधीश महामाननीय
श्रीमद् आर्त्तत्राणदेव एम. एल. ए.
महोदयानां
करकमले समर्प्यते
सकृतज्ञमियं
'प्रदीपिका'

टीकाकारेण—
प्रयागदत्तशर्मणा

॥ श्रीः ॥

भूमिका

किसी भी शास्त्र के ज्ञाता से यह बात छिपी नहीं है, कि तत्तत् शास्त्रों में परिभाषा का महत्व कितना है। यदि परिभाषा न हो तो शास्त्र में अत्यन्त गौरव होता है, वही वही बातों को बार बार कहना पड़ता है जिससे ग्रन्थ विस्तृत, ग्लानिकर और पुनरुक्त-दोष-युक्त होता है। केवल इतना ही नहीं, परिभाषा के विना शास्त्र में अव्यवस्था आ जाती है। विशेष कर वैद्यक शास्त्र के लिये जिस में प्राण के साथ ही सीधा सम्बन्ध रहता है, परिभाषा का महत्व अकथनीय है। इन सब दोषों को दूर करने के लिये ही परिभाषा बनाई जाती है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि शास्त्र को संक्षेप, सुबोध और संयत बनाने के लिये ही परिभाषा बनाई जाती है। प्रत्येक शास्त्र में कुछ व्यापक नियम, विधि या प्रणालिया हुआ करती हैं; उनको यदि सर्वत्र वर्णन किया जाय, तो ग्रन्थ में कितना गौरव हो जायगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उदाहरणार्थ एक क्वाथ को ही लीजिये। यदि क्वाथ की परिभाषा न दी जाय, तो चिकित्सा शास्त्र में प्रत्येक योग के साथ क्वाथ में द्रव्यों का परिमाण तथा बनाने की विधि लिखना होगा, जिससे ग्रन्थ अति विस्तृत और पुनरुक्त दोषयुक्त हो जायगा। दूसरा उदाहरण मान-परिभाषा का लीजिये। यदि मान-परिभाषा न हो तो हम कह नहीं सकते कि द्रव्य किस तरह से ग्रहण किया जा सकता है। इसके बिना तो व्यावहारिक जगत् में सर्वत्र अव्यवस्था ही हो

जायगी। इस तरह विचार करने से यह स्पष्ट होता है, कि परिभाषा कितनी महत्वपूर्ण है।

आयुर्वेदीय परिभाषाओं में मानपरिभाषा मुख्य है। यदि मान परिभाषा न हो तो द्रव्यों की योजना ही नहीं हो सकती। कहा भी है—'न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित्' इति।

आयुर्वेद में केवल मगध और कलिङ्ग देश की मानपरिभाषा ही ग्रहण की गई, जो 'मागधमान' और 'कालिङ्गमान' के नामसे प्रसिद्ध है। परिभाषा का प्रयोजन श्लोकों को देखने से मालूम होता है, कि पहले मागधमान का ही प्रचलन था, पर पीछे से लोगों के नाना कारणों से बलहीन होने के कारण कालिंगमान भी चलाया गया। यदुक्तम्—

'यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्त्वा नराः कलौ।
अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसम्मता'॥ इति।

इन दो मानों के होने पर भी मानविद्गण मागधमान को ही उत्तम समझते हैं। उक्तञ्च—

'कालिङ्गं मागधञ्चेति द्विविधं मानमुच्यते।
कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः'॥ इति।

मागध और कालिङ्ग मान में अन्तरः—

यदि गुञ्जा को आधार मान कर देखा जाय, तो मागध मान के अनुसार ६ गुञ्जा का माशा तथा १६ माशा का कर्ष होता है याने ९६ रत्ती का १ कर्ष होता है। कालिंग मान के अनुसार ८ गुञ्जा का माशा तथा १० माशा का कर्ष होता है याने ८० रत्ती का कर्ष होता है। इस तरह इन दोनों मानों में ९६ और ८० याने ६ और ५ का अनुपात आता है। आज कल के प्रचलित मान के अनुसार ८ रत्ती का माशा तथा १२ माशा का तोला

होता है याने ९६ रत्ती का तोला होता है, जो मागध मान के कर्ष के तुल्य है। पर कुछ कामों में १० माशे का भी तोला लिया जाता है, जिसे भर कहते हैं याने ८० रत्ती का भर होता है, जो कालिङ्ग मान के कर्ष के तुल्य है। इस तरह देखने से अब भी मागध और कालिङ्ग मानों का प्रचार मालूम होता है। पर इस संग्रह के अनुसार मूल में कुछ गड़बड़ी दीखती है। मागध मान से ८ सरसों का यव और ४ यव की गुञ्जा हुई याने ३२ सरसों की गुञ्जा हुई, पर कालिङ्ग मान से ६ सरसों का यव और ३ यव की गुञ्जा हुई याने १८ सरसों की गुंजा हुई। अतः मागध और कालिङ्ग मान में ३२ × ६ और १८ × ५ का याने ३२ और १५ का अनुपात आया। अतः मागधमान कालिङ्गमान के दुगुने से भी अधिक हुआ।

प्रचलित मान

भारतवर्ष में भिन्न भिन्न समय तथा देश में भिन्न भिन्न प्रकार की मान-परिभाषाएँ प्रचलित थीं तथा अब भी हैं। इनमें से कई प्राचीन संज्ञाएँ परिमाण में भेद होने पर भी अब तक स्थान स्थान में प्रचलित हैं; यथा-रीवाँ की खारी, राजस्थान का कूड़ो, छत्तीसगढ़ की खाड़ी (३२०० पल), गौन (२४०० पल) तथा उत्कल में मणं (२०० पल) आदि। गुंजा, माषा आदि तो अब भी पूर्ण प्रचलित हैं तथा कर्ष तो अपने प्राचीन मान में ही अब भी प्रायः सब स्थानों में चालू है। अस्तु; अब हम आयुर्वेदोक्त मान पर ही आते हैं। आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थ चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट संहिताओं में प्राचीन मान लिखित हैं, एवं पीछे से मागध और कालिङ्ग नाम से दो मान-परिभाषाओं का प्रचलन हो गया है।

वाग्भट संहिता में शाण से ही परिभाषा कथित है, एवं उपर्युक्त सब परिभाषाओं में—

'माष-टंकाक्षबिल्वानि-कुडवः प्रस्थ आढकः ।

राशिर्द्रोणि खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणाः ॥'

लागू है । अतः यहां हम चरकीय, सौश्रुत, मागध एवं कालिंग मानों का कुछ विवेचन करेंगे । कई विद्वानों के मत में चरकीय मान मागध एवं सौश्रुत मान कालिंगमान समझे जाते हैं और कालिंग मान से मागध मान को ही श्रेष्ठ समझा जाता है । यथा :—

'कालिंगं मागधश्चेति द्विविधं मानमुच्यते ।

कालिंगान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः' ॥ इति ।

कई विद्वान् कालिंग मान को ही आजकल के लिये उपयुक्त बतलाते हैं । कहा भी है :—

'यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्वा नराः कलौ ।

अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसम्मता ॥' इति ।

पर जैसा कि हम आगे चलकर बतायेंगे, इन सब मानों में न समानता है और न इनका समन्वय ही सहज है; और न किसी एक मान परिभाषा का प्रचार सार्वत्रिक हो सकता है एवं मान परिभाषा चाहे जो भी हो द्रव्यपरिमाण वही ही रहेगा । अतः स्वर्गीय कविराज श्री गंगाधर जी ने अपनी 'आयुर्वेदीय परिभाषा' में मान-परिभाषाओं के झमेले से ऊब कर यह मत दे दिया है कि :—

'येन केनापि मानेन व्यवहारो न दुष्यति' इति ।

कविराज जी का यह मत वस्तुतः समीचीन ही है, किन्तु इसके पहले विभिन्न मान परिभाषाओं का परस्पर तारतम्य कर विवेचन होना आवश्यक है और कौन सा योग किस ग्रन्थ का है यह भी जानने योग्य है, अन्यथा प्रत्येक वैद्य को

अपने लिये एक नई परिभाषा बनानी पड़ेगी। संग्रहों में भी योगों के साथ ही मूल ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है। अतः यह काम दुरूह ही रह जाता है, जब तक कि समग्र वैद्य समाज किसी साधारण मान से सब ग्रन्थों का शोधन न कर दे। पर परम्परा से व्यवहार चला ही आता है और विना समन्वय के ही वैद्य लोग अपने अपने स्थानीय मानों के अनुसार द्रव्य ग्रहण कर काम चला ही लेते हैं। जहां आकृति मान से द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं वहां तो कोई बात ही नहीं है; यथा मायूरघृत में समूचे मयूर का ग्रहण होता है, च्यवनप्राश में आंवले गिन कर लिये जाते हैं, एवं चरक में एक जगह 'तिलं दद्यात् विषस्य च' कहा है।

जो हो अब हम आयुर्वेदोक्त विविध मानों की तुलना करने की चेष्टा करेंगे। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि कर्ष के ऊपर सब मानों की परिभाषा एक ही है, अतः यहां कर्ष की ही आलोचना करना समीचीन है।

चरकमते—१ कर्ष = १२ सुवर्णमाष=३८४ धान्यमाष, सुश्रुतमते—१ कर्ष = १६ सुवर्णमाष = १९२ धान्यमाष। यदि १२ धान्य माष को ५ रत्ती के बराबर माना जाय जैसा कि स्वर्गीय गंगाधर जी कविराज ने माना है, एवं जो स्मृति प्रोक्त मानों के माष के बराबर है, तो—

चरक का १ कर्ष $= \frac{३८४ \times ५}{१२} =$ १६० रत्ती, और सुश्रुत का

१ कर्ष $= \frac{१९२ \times ५}{१२} =$ ८० रत्ती, होते हैं; जिससे चरकोक्त कर्ष सुश्रुतोक्त कर्ष से दूना होता है। यदि चरकोक्त कर्ष भी १६ माषात्मक होता तो चरकोक्त माष १० रत्ती का एवं सुश्रुतोक्त माष ५ रत्ती

का होता पर चरक ने १ कर्ष का १२ माशा ही किया है, अतः १ माष = १२$\frac{1}{3}$ कृष्णल या रत्ती ही होते हैं, पर इससे कर्ष में कुछ अन्तर नहीं आता। यदि आधुनिक मान से देखा जाय तो—२८४ धान्यमाष = ७६८ तण्डुल और १९२ धान्यमाष = ३८४ तण्डुल होते हैं। आधुनिक मान से ८ खसखस = १ चावल (तण्डुल) तथा ८ चावल = १ गुंजा या रत्ती होते हैं। इस मान से चरकीय कर्ष = ९६ रत्ती तथा सौश्रुत कर्ष = ४८ रत्ती होते हैं। याने वर्त्तमान प्रचलित मान का १ तोला = १ चरकीय कर्ष तथा ६ मासे = १ सौश्रुत कर्ष होते हैं जैसा भी विचार किया जाय चरकीय कर्ष सौश्रुत कर्ष से दूना ही ठहरता है। अब मागध और कालिङ्ग कर्षों पर यदि विचार किया जाय तो स्व स्व परिभाषानुसार—मागध कर्ष = १६ माशा ९६ रत्ती = ३८४ यव = २०७२ सर्षप, कालिंग कर्ष=१० माशा=८० रत्ती=२४० यव=१४४० सर्षप, याने कालिंग कर्ष के दूने से भी मागध कर्ष १९२ सर्षप या मागध ६ रत्ती (माशा) का बड़ा होता है, याने मागध मान के अनुसार ४५ रत्ती = १ कालिंग कर्ष होता है। यदि सर्षपों के देश भेद से छोटे बड़े होने का विचार कर के व्यावहारिक दृष्टि से कालिंग कर्ष को मागध कर्ष का आधा मान लिया जाय तो कोई विशेष हानि नहीं होगी। आजकल के प्रचलित मान से भी ४ यव या ८ तण्डुल = १ गुञ्जा होती है, अतः—चरकीय कर्ष = मागध कर्ष = साम्प्रत १ तोला, और सौश्रुत कर्ष = कालिंग कर्ष = साम्प्रत ६ माशा ($\frac{1}{2}$ तोला)। अतः यह प्रतिपन्न हुआ कि—

'कालिङ्गं सुश्रुते प्रोक्तं चरके मागधं मतम्' इति।

यह मत भी हमने केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही स्थापित किया है और द्वैगुण्यादि भी कर्ष एवं उससे उर्ध्व का ही प्रतिपन्न

हुआ है सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर और भी अनेक भेदभाव परिलक्षित होंगे ही।

प्रस्तु ग्रन्थ एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसके संग्रहकार कृष्णवल्लभ सेन के पुत्र गोविन्दवल्लभ सेन हैं। इन्होंने आयुर्वेदीय समस्त परिभाषाओं का संग्रह चार खण्डों में कर दिया है। कोई भी परिभाषा छूटने नहीं पाई है। अतः यह वैद्यों के अत्यन्त काम का हो गया है। परन्तु इस की कोई सरल हिन्दी टीका न होने से संस्कृत के न जानने वाले चिकित्सकों को तथा विद्यार्थियों को एक अभाव खटकता था। अतः विद्वज्जनोपासक, गोलोकवासी, श्रेष्ठिवर श्री हरिदास जी गुप्त के सुपुत्र बाबू श्री जयकृष्णदास जी गुप्त के अनुरोध से मैंने अत्यन्त सरल भाषा में इसकी टीका की है, जिसे हर एक हिन्दी जानने वाला भी पढ़कर समझ सकता है। स्थान स्थान पर मतान्तरादि का उल्लेख तथा सन्देह का निराकरण भी किया गया है।

शेष में आयुर्वेद के निष्णात विद्वानों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है, कि यदि मेरी अज्ञता से या प्रमाद से इसमें कोई त्रुटि आ गई हो तो, उसे सहृदयतापूर्वक क्षमा करेंगे।

भीमस्यापि रणे भङ्गो मुनेरपि मतिभ्रमः।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते॥ इति।

विदुषामनुचरः
प्रयागदत्त जोषी

विषयानुक्रमणिका

तृतीयः खण्डः

चतुर्थः खण्डः



प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज

पो० बा० नं० ८, बनारस—१

* श्रीः *

वैद्यक-
परिभाषा-प्रदीपः

नमोऽस्तु नीरदस्वच्छ-वपुषे पीतवाससे ।
यस्यास्येन्दुसुधां वंशी पपौ शब्दस्वरूपिणी ॥ १ ॥

गुरुपादयुगं नत्वा प्रयागदत्तशर्मणा ।
परिभाषा-प्रदीपस्य तन्यते वै 'प्रदीपिका' ॥

वर्षाकाल के मेघ के समान स्वच्छ याने वेदाग कृष्ण वर्ण शरीरधारी, पीले वस्त्रवाले उस श्री कृष्ण भगवान् को, जिसके मुख-चन्द्र के अमृत को शब्दस्वरूपी सामवेद ने वंशी का रूप धर कर पान किया, नमस्कार है ॥ १ ॥

कृष्णवल्लभसेनस्य तनुजेन वितन्यते ।
श्रीमद्गोविन्दसेनेन परिभाषाप्रदीपकः ॥ २ ॥

कृष्णवल्लभ सेन का पुत्र श्रीमान् गोविन्द सेन द्वारा यह परिभाषा-प्रदीप नामक वैद्यकग्रन्थ किया जाता है ॥ २ ॥

पूर्वैर्मुनिभिरादिष्टा स्वे स्वे तन्त्रे क्वचित् क्वचित् ।
परिभाषा मया सा सा समाहृत्य विलिख्यते ॥ ३ ॥

आयुर्वेद के ज्ञाता पूर्वाचार्य मुनियों ने अपने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर जो जो परिभाषाएँ लिखी हैं, उन्हें उन उन स्थानों से उद्धृत कर, मैं यहां लिखता हूं ॥ ३ ॥

ध्वान्ते पथि चिरष्णूनां यथा दीपः प्रदर्शकः ॥
नानाशास्त्रज्ञभिषजां सङ्ग्रहोऽयं तथा भवेत् ॥ ४ ॥

अंधेरे रास्ते पर चलने वालों को जिस तरह दीपक प्रकाश डाल कर मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार यह संग्रह-ग्रन्थ भी अनेक शास्त्रों के जानने वाले वैद्यों के लिये (शास्त्र में तथा व्यवहार में) मार्ग दिखाने वाला होगा ॥ ४ ॥

खण्डैश्चतुर्भिरादिष्टः सङ्ग्रहो नातिविस्तरः ।
वैद्याः कुर्वन्त्वत्र यत्नं व्यवहारार्थमुद्यताः ॥ ५ ॥

यह संग्रहग्रन्थ को अधिक विस्तृत न कर चार ही खण्डों में समस्त आवश्यक विषयों को कहा है । आयुर्वेद के व्यवहार याने चिकित्सा करने के लिये प्रस्तुत वैद्यों को इसे यत्नपूर्वक पढ़ना चाहिये (क्योंकि उन के उपयोगी विषय सब इस में कहे गये हैं) ॥

अव्यक्तानुक्तलेशोक्तसन्दिग्धार्थप्रकाशिकाः ।
परिभाषाः प्रकथ्यन्ते दीपीभूताः सुनिश्चिताः ॥ ६ ॥

आयुर्वेद के तन्त्रों में अनेक विषय ऐसे हैं, जो स्पष्टतया नहीं कहे गये हैं, कुछ विषय नहीं भी कहे गये हैं, कुछ विषयों पर बहुत ही थोड़ा कहा है तथा कुछ विषय ऐसे कहे गये हैं, कि उन में शङ्का पैदा होती है । ये (निम्नोक्त) परिभाषाएँ जो कि अच्छी तरह से निश्चय करके ही लिखी हैं, दीपक के सदृश इन सब बातों पर प्रकाश डालेंगी । याने इन्हें स्पष्टरूप से बतलायेंगी ॥ ६ ॥

अथ मानम्—

परिमाणं विना क्वापि नागदाज्जायते फलम् ।
तस्मात् सर्वे यतन्तेऽत्र परिमाणविधौ सदा ॥ ७ ॥

विना परिमाण की ओषधि से कभी कोई भी फल हो नहीं सकता यानी जो दवा विना परिमाण से ही मनमानी बनाई जाय, वह रोग को कभी दूर नहीं कर सकती (शारीरिक दोषों का तार-तम्य एवं द्रव्यों के रस, गुण, विपाक, वीर्य तथा मृदु, मध्य और तीक्ष्ण कार्यकारिता के कारण योगों में प्रत्येक प्रयुक्त द्रव्यों का

परिमाण भिन्न होता है । इस भिन्नता को प्रकट करने के लिये मानपरिभाषा तो एक मात्र अवलम्ब है) । इसलिये, आयुर्वेदशास्त्र के आचार्यगण पहले माप-तौल को ही कहने का प्रयत्न करते हैं ॥७॥

शार्ङ्गधरस्त्वाह—

न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् ।
अतः प्रयोगकार्य्यार्थं मानमत्रोच्यते मया ॥ ८ ॥

विना मान के द्रव्यों की योजना नहीं की जा सकती, अर्थात् यदि मान न हो, तो कौन सी दवा कितनी ली जाय, यह निश्चय न होने से औषधादि के प्रयोग में हमेशा अव्यवस्था ही रहेगी, जिससे उनकी योजना भी न हो सकेगी । इसलिये प्रयोगों के व्यवहार के लिये हम मान की मात्राएँ कहते हैं ॥ ८ ॥

अन्यच्च—

मानापेक्षितमाचार्य्या भेषजानां प्रकल्पनम् ।
मेनिरे यत्ततो मानमुच्यते पारिभाषिकम् ॥ इति ॥ ९ ॥

अन्यत्र भी कहा है कि आयुर्वेद के आचार्यगण ने दवाओं की कल्पना यानी तैयार करना तथा प्रयोग करना मान के ही आधीन रखा है, क्योंकि विना मान के दवा निश्चित नहीं की जा सकती, इसलिये पहले मान की परिभाषा ही कही जाती है ॥ ९ ॥

तस्य द्वैविद्ध्यम्—

तस्माच्च द्विविधं मानं कालिङ्गं मागधं तथा ।
कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः ॥ १० ॥

अब मान याने माप-तौल दो प्रकार की कहते हैं—मान दो तरह का होता है—कालिंगमान और मागधमान । इनमें से मान-परिभाषा के जानने वाले विद्वानों के मत से कालिंग मान की अपेक्षा मागधमान श्रेष्ठ है । ये मान प्राचीन काल में कलिंग और

मगध देश में प्रचलित थे, अतः ऐसा नाम पड़ गया ॥ १० ॥

मागधपरिभाषा—

जालान्तरगतैः सूर्यकरैः ध्वंसी विलोक्यते ।
षड्ध्वंसीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिश्च राजिका ॥११॥

श्रेष्ठता के कारण पहले मागधमान को ही कहते हैं— खिड़की के छिद्र से कोठरी में आई सूर्य की किरण में उड़ती हुई धूल के जो कण दिखाई देते हैं, उन्हें ध्वंसी कहते हैं। छः ध्वंसियों की एक मरीचि तथा छः मरीचियों की एक राजिका याने राई होती है ॥ ११ ॥ (वंशी का तीसवां भाग परमाणु कहलाता है।)

तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः ।
यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम् ॥ १२ ॥

तीन राई की एक सरसों होती है, आठ सरसों का एक जौ तथा चार जौ की एक गुञ्जा यानी रत्ती होती है ॥ १२ ॥

षड्भिश्च रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधामकौ ।
माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणं तन्निगद्यते ॥ १३ ॥
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते ।
क्षुद्रो मोरटकश्चैव द्रङ्क्षणं तन्निगद्यते ॥ १४ ॥

छः रत्तियों का एक माषा या मासा होता है जिसे हेम और धामक (कहीं कहीं धान्यक) भी कहते हैं। चार मासे का एक शाण होता है। एक शाण २४ रत्तियों का होता जो वर्त्तमान प्रचलित ३ मासा या एक चवन्नी भर होता है। इसे धरण तथा टंक भी कहते हैं। दो टंक का एक कोल यानी अठन्नी होती है। इसे क्षुद्रक, मोरट तथा द्रंक्षण भी कहते हैं ॥ १३—१४ ॥

कोलद्वयञ्च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिकः ।
अक्षः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम् ॥ १५ ॥

विडालपदकञ्चैव तथा षोडशिका मता।
करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः।
उडुम्बरञ्च पर्यायैः कर्ष एव निगद्यते ॥ १६ ॥

दो कोल का एक कर्ष (तोला) होता है। पाणिमानिक, अक्ष, पिचु, पाणितल, किञ्चित्पाणि, तिन्दुक, विडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपाद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उडुम्बर, इन सब शब्दों का अर्थ कर्ष ही है ॥ १५-१६ ॥

स्यात् कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ॥
शुक्तिभ्याञ्च पलं ज्ञेयं मुष्टिमात्रञ्चतुर्थिका।
प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ॥ १७ ॥

दो कर्षों का आधा पल होता है, जिसे शुक्ति तथा अष्टमिका भी कहते हैं, दो शुक्ति का एक पल होता है। मुष्टिमात्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी, बिल्व, इन नामों से पल ही कहा जाता है ॥ १७ ॥

पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतञ्च निगद्यते।
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवोऽर्द्धशरावकः ॥ १८ ॥
अष्टमानञ्च स ज्ञेयः कुडवाभ्याञ्च मानिका।
शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ॥ १९ ॥

दो पलों की एक प्रसृति या प्रसृत होता है। दो प्रसृत की एक अञ्जलि होती है। इसे कुडव, अर्द्धशराव तथा अष्टमान कहते हैं। दो कुडवों की एक मानिका होती है। इसे शराव तथा अष्टपल भी कहते हैं ॥ १८-१९ ॥

शरावाभ्यां भवेत् प्रस्थश्चतुःप्रस्थैस्तथाढकम्।
भाजनं कंस-पात्रे च चतुःषष्टिपलञ्च तत् ॥ २० ॥

दो शरावों का एक प्रस्थ होता है। चार प्रस्थ का एक आढक होता है जो भाजन, कंस या पात्र कहलाता है तथा वह ६४ पलों का होता है ॥ २० ॥

चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः ।
उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञितः ॥ २१ ॥

चार आढ़क का एक द्रोण होता है । कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि, ये द्रोण के ही पर्याय हैं ॥ २१ ॥

द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः ।
शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ॥२२॥

दो द्रोण का एक शूर्प या कुम्भ होता है जो ६४ शरावों का होता है । दो शूर्पों की एक द्रोणी होती है जिसे वाह तथा गोणी भी कहते हैं ॥ २२ ॥

द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥ २३ ॥

चार द्रोणी की एक खारी होती है । यह खारी चार हजार छियानबे (४०९६) पल की होती है ॥ २३ ॥

पलानां द्विसहस्रञ्च भार एकः प्रकीर्त्तितः ।
तुला पलशतं ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ २४ ॥

दो हजार पलों का एक भार होता है, तथा सौ पलों की एक तुला होती है यह मान सब जगह जाने ॥ २४ ॥

माष-टङ्काक्ष-बिल्वानि कुडवः प्रस्थ आढकम् ।
राशिर्द्रोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणाः ॥ २५ ॥

मासा, टंक, अक्ष, बिल्व, कुडव, प्रस्थ, आढ़क, राशि, द्रोणी तथा खारी, ये क्रमशः एक से दूसरे चौगुने होते हैं यानी मासा से टंक, टंक से अक्ष तथा अक्ष से बिल्व, इसी तरह आगे भी चौगुने चौगुने होते हैं ॥ २५ ॥

शुष्कार्द्रयोर्मानम्—

गुञ्जादिमानमारभ्य यावत् स्यात् कुडवस्थितिः ।
द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम् ॥ २६ ॥

प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं तद्द्रवार्द्रयोः ।
मानं तथा तुलायाश्च द्विगुणं न क्वचित् स्मृतम् ॥ २७ ॥

गुञ्जा याने रत्ती से लेकर एक कुडव पर्यन्त का मान, द्रव, गीला तथा शुष्क द्रव्यों के लिये समान होता है। प्रस्थ से लेकर आगे सूखे द्रव्यों की अपेक्षा गीले और द्रव पदार्थ दूना लेवे। तुला से आगे दूना लेना कहीं नहीं कहा गया है। याने तुला के पहले मान तक ही दूना लो; उसके आगे नहीं। उदाहरण—

यदि सूखी, गीली तथा द्रव वस्तु एक एक गुञ्जा कहे गये हों, तो एक गुञ्जा ही लेवे। इसी तरह कुडव तक सम मान रक्खे। ऐसा ही यदि तीनों एक एक प्रस्थ कहे हों तो सूखी तो एक प्रस्थ ही ले, पर गीली और द्रव दो दो प्रस्थ लेवे। इसी तरह तुला पहुँचने तक करे। उससे आगे फिर सम ही लेंवे ॥ २६–२७ ॥

कुडवभाण्डम्—

मृद्वृक्ष-वेणु-लोहादेर्भाण्डं यच्चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्णञ्च तथोच्चञ्च तन्मानं कुडवं वदेत् ॥ २८ ॥

मिट्टी, लकड़ी, बांस अथवा लोहा आदि धातु के बने पात्र जो चार अंगुल लम्बा, चार अंगुल चौड़ा तथा चार अंगुल गहरा हो, उसे कुडवमान कहते हैं यानी इसमें जितना द्रव्य आता है वह एक कुडव होता है। यह कुडव जल-तैलादि तरल पदार्थ नापने का है ॥

(इति मागधपरिभाषा।)

योगानां नामनिर्देशविधिः—

यदौषधन्तु प्रथमं यस्य योगस्य कथ्यते ।
तन्नाम्नैव स योगो हि कथ्यते तत्र निश्चयः ॥ २९ ॥

योगों में जो दवा पहले कही जाती है प्रायः वह योग उसी के नाम से ही कहा जाता है। ऐसा सर्वत्र जाने। जैसे, अमृतादि पाचन

में अमृता अर्थात् गिलोय पहले कही गयी है; पर कहीं कहीं प्रधान ओषधि के नाम से भी पुकारा जाता है चाहे वह पहले न भी हो, जैसे; मध्वासव आदि; कहीं कहीं संख्या तथा तौल सूचक नामों से भी पुकारे जाते हैं, जैसे; दशमूल, पंचलोक पाचन, नवकार्षिक क्वाथ, आदि कहीं कहीं अन्य नाम विशेषों से कहे जाते हैं, यथा सुदर्शन-चूर्ण, लवणभास्कर आदि ॥ २९ ॥

कालिङ्गपरिभाषा—

त्रसरेणुस्तु विज्ञेयस्त्रिंशता परमाणुभिः ।
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना ध्वंसी निगद्यते ॥ ३० ॥

अब कालिंग मान कहते हैं:—तीस परमाणु का एक त्रसरेणु होता है। इस का दूसरा पर्याय ध्वंसी (वंशी) है ॥ ३० ॥

षड्ध्वंसीभिर्मरीचिः स्यात् षण्मरीच्यस्तु सर्षपः ।
षट्सर्षपैर्यवस्त्वेको गुंजैका च यवैस्त्रिभिः ॥ ३१ ॥
माषो गुञ्जाभिरष्टाभिः सप्तभिर्वा भवेत् क्वचित् ।
हेमश्च धामकश्चैव पर्यायस्तस्य कीर्त्तितः ॥ ३२ ॥
चतुर्भिर्माषकैः शाणः सनिष्कष्टङ्क एव च ।
धरणशब्दोऽत्र बोध्यः, अन्यत्र शाणपर्य्याये लिखितत्वात् ।
गद्याणो माषकैः षड्भिः कर्षः स्याद्दशमाषकः ॥ ३३ ॥

छः ध्वंसी की एक मरीचि, छः मरीचि की एक सरसों होती है। छः सरसों का एक जौ, तीन जौ की एक गुञ्जा या रत्ती, तथा आठ रत्तियों का, कहीं कहीं सात रत्तियों का एक मासा होता है। इसे हेम और धामक (धान्यक) भी कहते हैं। चार मासे का एक शाण होता है। निष्क, टंक, इस के दूसरे नाम है। धरण शब्द भी इसी का पर्यायवाची जानना, क्योंकि अन्यत्र शाण के पर्याय में लिखा गया है। छः मासे का एक गद्याण तथा दश मासे का एक कर्ष होता है॥

शाणौ द्वौ द्रङ्क्षणं विद्यात् कोलं वटकमेव च ।
कर्षार्द्धं द्विगुणं कर्षं सुवर्णञ्चाक्षमेव च ॥ ३४ ॥
विडालपदकं चैव पिचुः पाणितलं तथा ।
उडुम्बरं तिन्दुकञ्च कवलग्रहमेव च ॥ ३५ ॥

दो शाण का एक द्रंक्षण, कोल या वटक होता है। यह आधा कर्ष होता है। इस का दुगुना अर्थात् दो कोल का एक कर्ष होता है। (४ मासे का शाण, दो शाण का द्रंक्षण तथा दो द्रंक्षणका कर्ष याने १६ मासे का कर्ष हुआ ऊपर 'कर्षः स्याद्दशमाषकः' कहा गया है। यह पूर्वापर विरोध है।) सुवर्ण, अक्ष, विडाल पदक, पिचु, पाणितल, उडुम्बर, तिन्दुक और कवलग्रह, कर्ष के ही नाम हैं ॥ ३४–३५ ॥

द्वे सुवर्णे पलार्द्धं स्यात् शुक्तिरष्टमिका तथा ।
द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चश्च चतुर्थिका ॥ ३६ ॥
बिल्वं षोडशिकाम्रञ्च द्वे पले प्रसृतं विदुः ।
कुडवः प्रसृताभ्यां स्यादञ्जलिः स निगद्यते ।
अष्टमानं शरावार्द्धं तस्य पर्य्यायमेव च ॥ ३७ ॥

दो सुवर्ण याने कर्ष का एक पलार्ध, शुक्ति या अष्टमिका होती है। दो पलार्ध का एक पल, मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, बिल्व षोड़शिका या आम्र होता है। दो पल का एक प्रसृत होता है। दो प्रसृतों का एक कुडव होता है। अञ्जलि, अष्टमान तथा शरावार्ध इसी के ही नाम हैं ॥ ३६–३७ ॥

कुडवाभ्यां माणिका स्याच्छरावोऽष्टपलं तथा ।
माणिकाभ्यां भवेत् प्रस्थो ज्ञेयः षोडशभिः पलैः ॥३८॥

दो कुडव की एक मानिका होती है। जिसे शराव और अष्टपल भी कहते हैं। दो मानिका का एक प्रस्थ होता है जो सोलह पल का होता है ॥ ३८ ॥

चतुःप्रस्थैराढकः स्यात् पात्रं कंसञ्च भाजनम् ।
अयं भिषग्भिराख्यातश्चतुःषष्टिपलैरिह ॥ ३९ ॥

चार प्रस्थ का एक आढ़क होता है। इसे पात्र, कंस, और भाजन भी कहते हैं। यह ६४ पल का होता ॥ ३९ ॥

चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कथितः पूर्वसूरिभिः ।
घटः कलश उन्मानो नल्वणोऽर्मण एव च ॥ ४० ॥
द्रोणपर्यायनामानि कीर्त्तितानि भिषग्वरैः ।
अयञ्च पलसंख्यातः षट्पञ्चाशच्छतद्वयम् ॥ ४१ ॥

चार आढ़क का एक द्रोण होता है। घट, कलश, उन्मान, नल्वण तथा अर्मण, ये द्रोण के ही दूसरे नाम हैं। यह दो सौ छप्पन (२५६) पल का होता है ॥ ४०-४१ ॥

द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः ।
शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी बृहद्द्रोणी च सा स्मृता ॥ ४२ ॥

दो द्रोण का एक शूर्प या कुम्भ होता है। दो शूर्प की एक द्रोणी होती है। इसे बृहद्द्रोणी भी कहते हैं ॥ ४२ ॥

द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥ ४३ ॥
तुला पलशतं प्रोक्तं भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः ।
पलानां द्विसहस्राणि भारः परिमितो बुधैः ॥ ४४ ॥

चार द्रोणी की एक खारी होती है। यह ४०९६ पल की होती है। सौ पल की एक तुला होती है। बीस तुला या दो हजार पल का एक भार होता है ॥ ४३-४४ ॥

माषकः शाणतिन्दूके पलं कुडवप्रस्थकः ।
राशिर्द्रोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणाः ॥ ४५ ॥

मासा, शाण, कर्ष, पल, कुड़व, प्रस्थ, राशि, द्रोणी, खारी,

ये अगले से पिछले पिछले चौगुने होते हैं, याने मास से शाण चौगुना, शाण से कर्ष चौगुना इसी तरह ॥ ४५ ॥

द्रवार्द्रयोर्द्वैगुण्यम्—

शुष्कद्रव्येष्विदं मानं द्विगुणञ्च द्रवार्द्रयोः ।
ज्ञातव्यं कुडवादूर्ध्वं प्रस्थादिश्रुतिमानतः ॥ ४६ ॥

यह मान सूखे द्रव्यों का है। यदि द्रव तथा गीली वस्तु हो, तो दुगुना यानी सूखे की अपेक्षा दुगुना लेना। यह नियम कुड्व से उपर का है। याने जितने कुड्व, प्रस्थ आदि कहा गया हो उसका द्विगुण ग्रहण करना चाहिये ॥ ४६ ॥

शुष्कद्रव्ये तु या मात्रा चार्द्रस्य द्विगुणा हि सा ।
शुष्कस्य गुरुतीक्ष्णत्वात् तस्मादर्द्धं प्रकीर्त्तितम् ॥ ४७ ॥

यदि कहीं पर शुष्क द्रव्य की जो मात्रा कही हो, वहीं यदि गीले की भी हो, तो सूखे से गीला द्रव्य दुगुना ले यानी यथा मात्रा सूखे से गीला दुगुना हिसाब लेवे। गीले द्रव्य से सूखे का आधा मान कहने का कारण यह है कि सूखे पदार्थ भारी और तीक्ष्ण होते हैं। इसलिये यदि कहीं गीला द्रव्य न मिले तो उसके स्थान में सूखा आधा ही ग्रहण करे। किन्तु उसके गुरुता और तीक्ष्णता पर विचार कर ही ग्रहण करे ॥ ४७ ॥

अस्यापवादमाह—

वासानिम्बपटोलकेतकिबलाकुष्माण्डकेन्दीवरी
वर्षाभूकुटजाश्वगन्धसहितास्ताः पूतिगन्धामृताः ।
मांसं नागबला सहाचरपुरौ हिङ्ग्वार्द्रके नित्यशः
ग्राह्यास्तत्क्षणमेव न द्विगुणिता ये चेक्षुजाता गणाः ॥४८॥

बांसा, नीम, पटोल, केतकी, बला, पेठा, शतावर, पुनर्नवा, कुरैया, असगंध, प्रसारणी, गुर्च, मांस, नागबला, कटरैया, गूगल, हींग, अदरख तथा ईख से बने पदार्थ-गुड़, खांड आदि-

हमेशा ही गीला ले, पर दुगुना नहीं ॥ ४८ ॥

अन्यच्च—

गुडूची कुटजो वासा कुष्माण्डश्च शतावरी ।
अश्वगन्धासहचरौ शतपुष्पा प्रसारणी ॥
प्रयोक्तव्याः सदैवार्द्रा द्विगुणं न च कारयेत् ॥ ४९ ॥
(शार्ङ्गधरमतमेतत्)

गिलोय, कुरैया, बांसा, पेठा, शतावर, असगन्ध, पियाबांसा, सौंफ, प्रसारणी, इन्हें उसी वक्त का लाया हुआ और गीला ही ले, पर दूना न करे। यह शार्ङ्गधर का मत है ॥ ४९ ॥

अन्यच्च—

वासाकुटजकुष्माण्डशतपुष्पासहामृता ।
प्रसारण्यश्वगन्धा* च नागाह्वयातिबलाबलाः ॥ ५० ॥
नित्यमार्द्रा प्रयोक्तव्या न तासां द्विगुणो भवेत् ।
हस्तिकर्णपलाशवाट्यालकगोरत्ततण्डुलाश्चैतत् ॥ ५१ ॥

बांसा, कूड़ा, पेठा, सौंफ, घीग्वार, गिलोय, प्रसारणी, असगन्ध, नागबला, अतिबला, बला, हस्तिकर्णपलाश, बला, गोरखमुण्डी, चौलाई, ये सब हमेशा ही गीला प्रयोग करे, पर उन्हें दुगुना न करे ॥ ५०–५१ ॥

द्रव्याणां योग्यायोग्यत्वम्—

शुष्कं नवीनं द्रव्यञ्च योज्यं सकलकर्मसु ।
आर्द्रञ्च द्विगुणं विद्यादेष सर्वत्र निश्चयः ॥ ५२ ॥

सूखे और नये द्रव्य हमेशा सब प्रयोगों में लेवे। यदि सूखा न

---

* श्लोक ४८ से ५१ तक के तीन मतों से असगंध और सौंफ को गीला एक गुण ही ग्रहण करने का विधान है। शुष्क ग्रहण करने से श्लोक ४७ के अनुसार आधा ग्रहण करना चाहिये, पर व्यवहार में प्रायः शुष्क एक गुण ग्रहण करते हैं।

मिले, तो उसके स्थान में गीला दुगुना लेवे। यह सर्वसम्मत नियम है ॥ ५२ ॥

अन्यच्च—

द्रव्याण्यभिनवान्येव प्रशस्तानि क्रियाविधौ।
ऋते घृत-गुड-क्षौद्रधान्यकृष्णाविडङ्गतः॥ ५३ ॥

घी, गुड़, शहद, धनियां, पीपल तथा वायविडंग के सिवाय अन्यान्य प्रायः सब द्रव्य चिकित्सा के काम में नये ही श्रेष्ठ होते हैं। घृत आदि पुराने गुणदायक होते हैं। इससे यह प्रतिपन्न हुआ कि व्यवहार में चार प्रकार के द्रव्य आते हैं। सूखे और गीले या द्रव और नये या पुराने अर्थात् नये सूखे, नये गीले या द्रव, पुराने सूखे और पुराने गीले या द्रव ॥ ५३ ॥

स्नेहादेर्गुणागुणम्—

स्नेहसिद्धो गुडादिश्च गुणहीनोऽब्दतो भवेत्।
स्नेहाद्याः पूर्णवीर्य्याः स्युराचतुर्मासतः परम्॥ ५४ ॥
अब्दादूर्द्ध्वं घृतं पक्वं हीनवीर्यन्तु तद्भवेत्।
तैले विपर्ययं विद्यात् पक्वेऽपक्वे विशेषतः॥ ५५ ॥

घृत तैलादि में पके हुये गुड़ादिक एक एक वर्ष के बाद क्रमशः गुणहीन होते जाते हैं। औषधि से पके तेल आदि पकाने के चार मास बाद ही अपने पूर्ण वीर्य को प्राप्त होते हैं। पका हुआ घी एक साल बाद हीनवीर्य हो जाता है। पर तेल पक्व हो या अपक्क, ज्यों ज्यों पुराना होगा, त्यों त्यों अधिक गुण वाला होगा खास कर अपक्क तेल। यहां तेल शब्द से सिर्फ तिलों का ही तेल ग्रहण करे। सरसों आदि के स्नेह जो सामान्यतः तेल के नाम से पुकारे जाते हैं न ले ॥ ५४-५५ ॥

अन्यच्च—

गुणहीनं भवेत् वर्षादूर्द्ध्वं तद्रूपमौषधम्।

मासद्वयात् तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् ॥ ५६ ॥
हीनत्वं गुडिकालेहौ लभेते वत्सरात् परम् ।
हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकात् तथा ॥ ५७ ॥
ओषध्यो लघुपाकाः स्युर्निर्वीर्य्या वत्सरात् परम् ।
पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ॥ ५८ ॥

सामान्यतः ओषधियां एक वर्ष बाद गुणहीन हो जाती हैं। चूर्ण दवाएं दो मास बाद ही हीनवीर्य हो जाती हैं। गोली तथा अवलेह एक वर्ष बाद गुणहीन होते हैं। घी तथा तैल आदि चार मास पश्चात् हीनगुण हो जाते हैं। (यहां तेल सरसों आदि का जाने) फल-मूलादि दवाएं एक वर्ष बाद एक दम ही वीर्यहीन हो जाते हैं, लघुपाकी होकर क्रमशः वीर्यहीन होती जाती हैं। यह सामान्य नियम है। यदि दवाएं शीशी आदि में रखी जायं डुस्तडांट लगाया जाय जिससे वायु प्रवेश न कर सके तथा अधिक शीत, उष्णता तथा आर्द्रता से सुरक्षित रखी जायं तो अधिक काल तक भी पूर्णवीर्य रह सकती हैं। आसव, धातुओं के भस्म तथा पारे के भस्म आदि ज्यों ज्यों पुराने होते हैं, त्यों त्यों उनमें गुणोत्कर्ष होता जाता है॥

शार्ङ्गधरेणैवोक्तम्—

व्याधेरयुक्तं यद्द्रव्यं गणोक्तमपि तत्त्यजेत् ।
अनुक्तमपि युक्तं यद्योजयेत् तत्र तद्बुधः ॥ ५९ ॥

जो द्रव्य व्याधि के लिये अनुपयुक्त है, वह यदि गण में कहा हो तो भी उसका ग्रहण न करे और यदि गण में न भी कहा हो तो भी उसका ग्रहण न करे और यदि गण में न भी कहा हो तो जो द्रव्य व्याधि का हित हो, दवा में उसे शामिल कर ले। (पर द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव, देश का तथा रोगी के सत्व, साम्य और प्रकृति आदि पर विचार कर ही ओषधितत्वज्ञ वैद्य ऐसा करे)॥

प्रशस्तदेशजद्रव्यम्—

आग्नेया विन्ध्यशैलाद्याः सौम्यो हिमगिरिर्मतः ।
ततस्तान्यौषधानि स्युः प्रशस्तानि क्रियाविधौ ॥ ६० ॥

विन्ध्य आदि दक्षिण के पर्वत उष्णकटिबन्ध में होने के कारण आग्नेय गुण वाले होते हैं, जिससे उन में उत्पन्न दवाएं प्रायः सूर्य के तेज से कम गुण वाली होती हैं; पर हिमालय पर्वत उष्ण कटिबन्ध के वाहर और उच्च होने के कारण से सौम्य है; जिस से उस में उपजी हुई दवाएं पूर्ण रसवीर्यादि से युक्त और प्रशस्त होती हैं। इसलिये चिकित्सा कर्म में हिमालय की ही ओषधियाँ ग्रहण करे; (पर आग्नेय गुण वाले पदार्थ विन्ध्यादिकों की भी ले सकते हैं) ॥ ६० ॥

अन्येष्वपि प्ररोहन्ति वनेषूपवनेषु च ।
गृह्णीयात्तान्यपि भिषग् वने शैले विशेषतः ॥ ६१ ॥

क्योंकि सब को हिमालय की दवाएं प्राप्त नहीं हो सकतीं, इसलिये जो दवाएं अपने स्थान के वन, पर्वत तथा बाग आदि उत्तम स्थानों में पैदा होती हैं, उन्हीं को वैद्य ग्रहण करे; खास कर के बन और पहाड़ों से ॥ ६१ ॥

अन्येऽप्याहुः—

धन्वसाधारणे वापि गृह्णीयादुत्तराश्रितम् ।
पूर्वाश्रितं वा मतिमानौषधं तद्विचक्षणः ॥ ६२ ॥

धन्व—जाङ्गल और आनूप—तथा साधारण देश में उत्तर या पूर्व दिशा की ओर उत्पन्न हुई दवा को बुद्धिमान् वैद्य ओषधि के लिये ग्रहण करे ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—

धन्वसाधारणे देशे मृदावुत्तरतः शुचौ ।
अवैकृतमनाक्रान्तं सवीर्यं ग्राह्यमौषधम् ॥ ६३ ॥

धन्व और साधारण देश में उत्तर की ओर पवित्र स्थान का, मृदु, विकृत न हुए याने न बिगड़े हुए, कीड़े, वातातप या नजदीक के कोई बड़े वृक्ष से आक्रान्त न हुए-पूर्णवीर्यवाली ओषधियों का ग्रहण करे ॥ ६३ ॥

निषिद्धदेशजद्रव्यम्—

देवतालयवल्मीककूपरथ्याश्मशानजाः ।
अकालतरुमूलोत्था न्यूनाधिकचिरन्तनाः ॥
जलाग्निक्रिमिसंक्षुण्णा ओषध्यस्तु न सिद्धिदाः ॥ ६४ ॥

देवमन्दिर, बांबी, कुआं, रास्ता तथा स्मशान में पैदा हुई, अपने मामूली काल को छोड़ अन्य समय उत्पन्न हुई, किसी बड़े वृक्ष की जड़ के पास उत्पन्न हुई, अपने साधारण आकार से कम या अधिक फैली हुई, जल, अग्नि अथवा कीड़े आदि से बिगड़ी हुई दवाएं वैद्य ग्रहण न करे, क्योंकि ये दवाएं अपने गुणवीर्य से हीन होती हैं, जिस से इन के प्रयोग से चिकित्सा भी सफल नहीं होती।

अन्यच्च—

वल्मीक-कुत्सितानूप-श्मशानोषर-मार्गजाः ।
जन्तु-वह्नि-हिमव्याप्ता नौषध्यः कार्यसाधिकाः ॥ ६५ ॥

बांबी के ऊपर, अपवित्र स्थान में, अनूप याने जलबहुल स्थान में, स्मशान में, ऊषर भूमि में, तथा रास्ते के निकट उत्पन्न हुई अथवा कीड़े, अग्नि या ठंड-पाला आदि से बिगड़ी हुई दवाएँ चिकित्सा कर्म में सिद्धि नहीं देती; क्योंकि ये गुणहीन होती हैं ॥६५॥

भूतापसारणः—

ॐ निवसन्ति हि भूतानि यान्यस्मिन् कानचिद् द्रुमे ।
अपक्रामन्त्वतस्तानि प्रजार्थं पाट्यते द्रुमः ॥ ६६ ॥
ॐ वेतालाश्च पिशाचाश्च राक्षसाश्च सरीसृपाः ।

ये भूतास्तेऽपसर्पन्तु वृक्षादस्माच्छिवाज्ञया ॥ ६७ ॥

यदि इस वृक्ष पर कोई भूत रहते हों तो वे यहां से चले जायँ, क्योंकि मैं इस वृक्ष को प्रजा के कल्याण के लिये उखाड़ता हूं। इसलिये इस पर वेताल, पिशाच, राक्षस या सरिसृप-सर्प आदि-जो भी भूत हों, वे श्रीशिव जी के आज्ञा से इस वृक्ष पर से हट जावें। यह मन्त्र पढ़ कर ओषधिको उखाड़े। इससे भूतादि भाग जाते हैं और वृक्ष स्वतन्त्र हो जाता है ॥ ६६-६७ ॥

उद्धारणमन्त्रः—

ॐ येन त्वां खनते ब्रह्मा येनेन्द्रो येन केशवः ।
तेनाहं त्वां खनिष्यामि मन्त्रपूतेन पाणिना ॥ ६८ ॥

'मन्त्रों से पवित्र जिन हाथों से तुझे ब्रह्माने खोदा था, जिन मन्त्रपूत हाथों से तुझे इन्द्र ने खोदा था तथा जिन मन्त्रपूत हाथों से तुझे भगवान् केशव ने खोदा था, उन्हीं मन्त्रपूत हाथों से मैं भी तुझे खोदता हूं' इस मन्त्र को पढ़ कर औषध को खोदे ॥ ६८ ॥

भूतादिमुक्तयेऽभ्यर्च्य सायं प्रातरुदङ्मुखैः ।
श्राद्धैरुपोषितैर्ग्राह्यं भेषजं कर्मकृद्भवेत् ॥ ६९ ॥

यदि वैद्य श्रद्धापूर्वक उपवास रख कर, ओषधि को भूतादिकों से मुक्त होने के लिये बलि-पूजादि करके सायं सन्ध्या अथवा प्रातः काल यथाविधि ओषधि ग्रहण करे, तो वह अधिक गुणवाली होगी ॥

औषधद्रव्याङ्गग्रहणमाह—

सारः स्यात् खदिरादीनां निम्बादीनां च वल्कलम् ।
फलं तु दाडिमादीनां पटोलादेश्छदस्तथा ॥ ७० ॥

खैर आदि का सार, आदि शब्द से लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, देवदारु आदि; निम्ब आदि, आदि से बेल, श्योनाक, गंभारी की छाल; दाडिमादि का फल तथा पटोलादि का पत्र ही दवा के काम में ग्रहण करे ॥ ७० ॥

शार्ङ्गधरस्त्वाह—

न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्या सारः स्याद्बीजकादितः ।
तालीशादेश्च पत्राणि फलं स्यात् त्रिफलादितः ॥ ७१ ॥

बड़, पीपल, पाखर, जामुन आदि की छाल; विजयसार, महुआ, खैर तथा बबूल आदि के सार, तालीस, घीग्वार, पान आदि के पत्र तथा त्रिफला, सुपारी, मैनफल आदि के फल ही ग्रहण करे ॥७१॥

अन्यच्च—

महान्ति यानि मूलानि काष्ठगर्भाणि यानि च ।
तेषान्तु वल्कलं ग्राह्यं ह्रस्वमूलानि कृत्स्नशः ॥ ७२ ॥

जो वृक्ष बड़े मूल वाले हों तथा जिसके भीतर कड़ी और सार वाली लकड़ी हो, उसकी छाल ग्रहण करे तथा जिनकी जड़ छोटी हो तो जड़ पत्ते आदि सहित उसे ग्रहण करे ॥ ७२ ॥

अन्यच्च—

अतिस्थूलजटा याश्च तासां ग्राह्यास्त्वचो ध्रुवम् ।
गृह्णीयात् सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान् ॥ ७३ ॥

जो जड़ अधिक मोटा हो और भीतर लकड़ी हो, उसकी छाल ग्रहण करे तथा जो जड़ पतली और छोटी हों उन्हें सर्वाङ्ग ग्रहण करे ॥

निर्देशः श्रूयते तन्त्रे द्रव्याणां यत्र यादृशः ।
तादृशः संविधातव्यः शास्त्राभावे प्रसिद्धतः ॥ ७४ ॥

ये साधारण नियम हैं । तन्त्र में जिस योग में जिस दवा का कोई खास अङ्ग कहा हो वहां उस खास अङ्ग का ही ग्रहण करे । पर यदि ऐसा न हो याने कोई खास अङ्ग का उल्लेख न हो, तो ऊपर के नियमानुसार ग्रहण कर ले । यदि इसमें भी न कहा हो तो जिस वृक्ष के जिस अङ्ग का ग्रहण करने की रीति लोगों में प्रचलित हो, उसी के अनुसार ग्रहण करे ॥ ७४ ॥

व्याधिप्रशमने पूर्वं ज्ञापितानि पृथग्जने ।
विस्फोरितान्यौषधानि पश्चाद्राजनि योजयेत् ॥ ७५ ॥

नये कल्पित दवाओं का प्रयोग पहले सामान्य लोगों में करे। इससे जब दवा के गुण आदि स्पष्ट रूप से प्रगट हो जायँ, तो बाद में उन्हें राजा आदि श्रेष्ठजनों के ऊपर प्रयोग करे; पर सामान्य लोगों पर भी बहुत सोच विचार कर सावधानी से पहला प्रयोग करे ॥

गोपाल-तापस-व्याध-मालाकार-वनेचरात् ।
पृष्ट्वा नामानि जानीयाद् भेषजानां च शास्त्रतः ॥७६ ॥

गाय के चराने वाले, तपस्वी, माली, जंगल में घूमने वाले शिकारी या किरातादि जाति से पूछ-पूछ कर तथा उनका रूप गुण आदि का परिचय शास्त्र से मिलान कर, जंगली जड़ी-बूटियों का परिचय प्राप्त करे ॥ ७६ ॥

शरद्यखिलकर्मार्थं ग्राह्यं सरसमौषधम् ।
विरेकवमनार्थञ्च वसन्तान्ते समाहरेत् ॥ ७७ ॥

सर्व कर्मों के लिये दवाओं को शरद काल में ही उखाड़ कर अच्छी तरह रखे, क्योंकि दवाएँ इस समय सरस होती हैं अर्थात् अपने रसवीर्यादि से पूर्ण होती हैं। जुलाब तथा कै कराने के लिये दवाएँ वसन्त ऋतु के अन्त में याने अन्तिम भाग में या ग्रीष्म काल के प्रारम्भ में ही ग्रहण करे ॥ ७७ ॥

ऋतुभेदे द्रव्याङ्गग्रहणमाह—

मूलानि शिशिरे ग्रीष्मे पत्रं वर्षावसन्तयोः ।
त्वक्कन्दौ शरदि क्षीरं यथर्त्तु कुसुमं फलम् ॥
हेमन्ते सारमोषध्या गृह्णीयात् कुशलो भिषक् ॥७८॥

शिशिर ऋतु में जड़ें, ग्रीष्म ऋतु में पत्र, वर्षा और वसन्त

ऋतु में क्रमशः छाल तथा कन्द, शरत्काल में दूध; फूल और फल, जो जिस ऋतु में पैदा हों तथा हेमन्त ऋतु में सार वाली खैर आदि दवाएँ ग्रहण करे, चतुर वैद्य संग्रह कर रखे ॥ ७८ ॥

सामान्योक्तौ द्रव्यग्रहणमाह—

पात्रोक्तौ चापि मृत्पात्रमुत्पले नीलमुत्पलम् ।
शकृद्रसे गोमयरसश्चन्दने रक्तचन्दनम्* ॥ ७९ ॥
सिद्धार्थः सर्षपे ग्राह्यो लवणे सैन्धवं मतम् ।
मूत्रे गोमूत्रमादेयं विशेषो यत्र नेरितः ॥ ८० ॥

जहां सामान्य वस्तु मात्र का निर्देश हो, पर कोई खास बात न कही गयी हो, वहाँ किस चीज का ग्रहण करे सो कहते हैं—यदि केवल पात्र कहा हो पर कोई खास पात्र न कहा हो, तो मिट्टी का पात्र ले । इसी तरह उत्पल से नीलोत्पल, मल के रस से गोबर का रस, चन्दन से लालचन्दन, सर्षप से सफेद सरसों, लवण से सेंधा नोन तथा मूत्र से गोमूत्र का ही ग्रहण करे ॥ ७९–८० ॥

पयःसर्पिःप्रयोगेषु गव्यमेव प्रशस्यते ।
स्त्रियश्चतुष्पदे ग्राह्याः पुमांसो विहगेषु च ॥ ८१ ॥
जाङ्गलानां वयस्थानां चर्म्मरोमनखादिकम् ।
हित्वा ग्राह्यं पूतमांसं सास्थिकं खण्डशः कृतम् ॥ ८२ ॥
पक्तव्यमाजमांसञ्च विधिना घृततैलयोः ।
हित्वा स्त्रीं पुरुषञ्चापि क्लीवं तत्रापि दापयेत् ॥ ८३ ॥

दूध और घी गाय के ही श्रेष्ठ होते हैं, इससे इन्हें ग्रहण करे । मांस से चौपायों में स्त्री का तथा पक्षियों में नर का ग्रहण करे ।

---

*चूर्ण, अवलेह, आसवारिष्ट तथा घृतादि स्नेह साधन करना हो तो चन्दन शब्द से सफेद चन्दन का ग्रहण करे तथा कल्क आदि पंचविध कषाय और लेप के लिये रक्त चन्दन का ग्रहण करे यह भावप्रकाश का मत है ।

जांगल देश में विचरने वाले जवान पशुओं का चमड़ा, नख तथा रोम आदि अव्यवहार्य अङ्गों को छोड़ कर, हड्डी सहित टुकड़े किये हुए धुले मांस लेकर घृत तैल आदि का पाक करे। यदि बकरे का मांस लेना हो तो वहां स्त्री तथा पुरुष दोनों को त्याग कर नपुंसक याने खस्सी का ही मांस ग्रहण करे ॥ ८०-८३ ॥

बलिनञ्च वयःस्थञ्च सुवीर्यञ्च सुदेहिनम्।
न वृद्धञ्च न बालञ्च अवीर्यं स्रावशोणितम् ॥ ८४ ॥

जो पशु बलवान् हों, जवान हों, वीर्यवाले हों तथा शरीर से भी उपयुक्त मोटे ताजे हों, बुड़े न हों, न बच्चे ही हों, न हीनवीर्य हों और न रक्तस्राव किया गया हो, इसी प्रकार के सर्वथा निर्दोष पशु का ही मांसादि ग्रहण करना चाहिये ॥ ८४ ॥

शृगालबर्हिणोः पाके पुमांसं तत्र दापयेत्।
मयूरी जम्बुकी छागी वीर्यहीना स्वभावतः ॥ ८५ ॥

सियार और मोर के मांस का पाक करना हो तो पुरुष का ही ग्रहण करे, क्योंकि सियारनी, मोरनी तथा छागी स्वभाव से ही वीर्यहीना होती हैं ॥ ८५ ॥

काशीराजमतेनैव छागमेव नपुंसकम्।
अभावादप्रतीक्षाद्वा वृद्धवैद्योपदेशतः ॥
वन्ध्या छागी विपक्तव्या न तु शास्त्रमतं चरेत् ॥८६॥

काशीराज के मत से केवल छाग ही नपुंसक ग्रहण करे; परन्तु यदि नपुंसक छाग न मिले अथवा मिलते तक समय की प्रतीक्षा न कर सके, तो उस समय शास्त्रविधि को छोड़कर, वृद्ध वैद्य के उपदेशानुसार बांझ छागी का ही मांस ग्रहण करे ॥ ८६ ॥

स्त्रीणां मूत्रं गवां तीक्ष्णं न तु पुंसां विधीयते।
पित्तात्मिकाः स्त्रीयो यस्मात् सौम्यास्तु पुरुषा मताः ॥

क्षीरमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारे तु संहरेत् ॥ ८७ ॥

गोजाति के स्त्री का ही मूत्र ग्रहण करना चाहिये, न कि बैल के; क्योंकि स्त्रीजाति पित्तात्मिका होने से उनका मूत्र तीक्ष्ण होता है। पुरुष सौम्य गुण वाले होते हैं। जब पशुका भोजन जीर्ण हो जाय तभी उसका दूध, मूत्र तथा विष्ठा आदि का ग्रहण करना चाहिये ॥८७॥

अनुक्तौ द्रव्यग्रहणम्—

कालेऽनुक्ते प्रभातं स्यादङ्गेऽनुक्ते जटा भवेत् ।
भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात् पात्रेऽनुक्ते तु मृण्मयम् ॥
द्रवेऽनुक्ते जलं विद्यात् सर्वत्रैष विनिश्चयः ॥ ८८ ॥

यदि औषध में समय का निर्देश न हो तो सुबह, अंग का निर्देश न हो तो जड़ (पर इस ओषधि के किस अंग का व्यवहार किया जाता है, इस पर भी ध्यान रखो) भाग न कहा गया हो तो सम भाग, पात्र न कहा हो तो मिट्टी का और यदि द्रव्य न कहा गया हो तो जल का ग्रहण करे। अनुक्त द्रव्यों के ग्रहण करने का यह नियम सर्वत्र जाने ॥ ८८ ॥

अभावे द्रव्यग्रहणम्—

मधु यत्र न विद्येत तत्र जीर्णो गुडो मतः ।
पुरातनगुडाभावे रौद्रे यामचतुष्टयम् ॥ ८९ ॥
संशुष्य नूतनं ग्राह्यं पुरातनगुडैषिणा ।
क्षीराभावे भवेन्मौद्गो रसो मासूर एव वा ॥ ९० ॥

यदि शहद न मिल सके तो उसके स्थान में पुराना गुड़ ले। पुराना गुड़ न मिले तो उसके स्थान में नये गुड़ को तेज धूप में चार पहर तक सुखाकर ग्रहण करे। यदि दूध न मिल सके तो मूंग अथवा मसूर का यूष से काम लेवे ॥ ८९-९० ॥

सिताभावे च खण्डः स्यात् शाल्यभावे च षष्टिकः ।
असम्भवे च द्राक्षाया गम्भारीफलमिष्यते ॥ ६१ ॥

यदि शक्कर न मिले तो खांड लेवे, शाली चावलों के अभाव में सांठी चावल लेवे तथा दाखों के अभाव में गम्भारी का फल ग्रहण करे ॥

न भवेद्दाडिमो यत्र वृक्षाम्लं तत्र दापयेत् ।
सौराष्ट्रमृदभावे च ग्राह्या पङ्कस्य पर्पटी ॥ ६२ ॥

जहां खट्टे अनार न मिले वहां इमली लेवे तथा सौराष्ट्री मिट्टी न मिलने पर मिट्टी की पपड़ी ही ले लेवे ॥ ९२ ॥

नतं तगरमूलं स्यादभावे शीह्लीजटा ।
प्रयोगे यत्र लौहः स्यादभावे तन्मलं विदुः ॥ ६३ ॥

तगरमूल के अभाव में शीह्ली की जड़ डाले तथा लोह के न मिल सकने पर लोह-कीट का ही ग्रहण करे । कान्त, तीक्ष्ण, पाण्ड्य आदि जिस लोह का निर्देश हो उसीका मल ग्रहण करे ॥ ९३ ॥

सर्षपः शुक्लवर्णो यः स हि सिद्धार्थ उच्यते ।
तत्र सिद्धार्थकाभावे सामान्यः सर्षपो मतः ॥ ६४ ॥

जो सफेद सरसों होती है वही सिद्धार्थ कहाती है । उसके न मिलने पर साधारण पीली सरसों का ग्रहण करना उचित है ॥ ९४ ॥

चविकागजपिप्पल्योः पिप्पलीमूलमेव च ।
अभावे पिप्पलीमूलं हस्तिपिप्पलिचव्ययोः ॥ ९५ ॥
अभावे पृश्निपर्ण्याश्च सिंहपुच्छी विधीयते ।
नित्यं मुञ्जतिकाभावे तालमस्तकमिष्यते ॥ ६६ ॥

चाभ तथा गजपीपल के अभाव में पिपरामूल लेवे । पृश्नि-पर्णी के अभाव में शालपर्णी लेवे तथा मूंज के न मिलने पर तालमस्तक लेवे ॥ ९५-९६ ॥

कुङ्कुमस्याप्यभावेऽपि निशा ग्राह्या भिषग्वरैः ।
मुक्ताभावे शङ्खचूर्णं वज्राभावे वराटिका ॥ ९७ ॥
कर्कटश्रृङ्गकाभावे मायाम्बु चेष्यते बुधैः ।
धान्यकाभावतो दद्यात् शतपुष्पां भिषग्वरः ॥ ९८ ॥

कुंकुम (केसर) के अभाव में हल्दी लेवे । मोती के न मिलने पर शंखचूर्ण तथा हीरा के अभाव में वराटिका (कौड़ी) लेवे । काकड़ाश्रृङ्गी के अभाव में मायाम्बु का बीज तथा धनियां के अभाव में सौंफ डाले ॥ ९७-९८ ॥

वाराहीकन्दकाभावे चर्मकारालुको मतः ।
मूर्वाभावे त्वचो ग्राह्या जिङ्गिन्या अवते सदा ॥ ९९ ॥
अभावात् पौष्करे मूले कुष्ठं सर्वत्र गृह्यते ।
सामुद्रं सैन्धवाभावे विडं वा गृह्यते बुधैः ॥ १०० ॥

वाराहीकन्द के न मिलने पर चमारआलू लेवे तथा मूर्वा के अभाव में मजीठ की छाल ग्रहण करे। पोहकरमूल के अभाव में सर्वत्र कूठ लेवे तथा सेन्धा नोन के अभाव में समन्दर नोन या बिरिया नोन ग्रहण करे ॥ ९९-१०० ॥

कुस्तुम्बुरु न विद्येत यत्र तत्र च धान्यकम् ।
पुष्पाभावे फलञ्चामं विड्भेदे बिल्वतः फलम् ॥१०१॥

कच्चा धनियां या नैपाली धनियां न हो तो उसके स्थान में सूखा धनियां ही लेवे । फूल न मिलने पर कच्चा फल ग्रहण करे; पर यदि विड्भेद के लिये बेल फल लेना हो, तो पक्का फल ही लेवे ॥१०१॥

यष्ट्याह्वाभावतो विद्याच्चव्यं तस्याप्यभावतः ।
मूलं मौषलिकं देयमभावे कुटजस्य च ॥ १०२ ॥

मुलेठी के अभाव में चाभ एवं चाभ के न मिलने पर मूसली की जड़ देवे । कूड़ा के अभाव में भी मूसली लेवे ॥ १०२ ॥

रास्नाभावे च वन्दाकं जीराभावे च धान्यकम् ।
तुम्बुरूणामभावेऽपि शालिधान्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ १०३ ॥

रास्ना न मिलने पर वृक्ष का वान्दा लेवे। जीरा के अभाव में धनियां तथा तुम्बरु के अभाव में शालिधान्य ग्रहण करे ॥ १०३ ॥

भल्लातकासहत्वेऽपि रक्तचन्दनमिष्यते ।
भल्लाताभावतश्चित्रं नलश्चेक्षोरभावतः ।
मद्याभावे च शिण्डाकी शुक्ताभावे च काञ्जिकम् ॥१०४॥

यदि भिलावा सहन हो तो उसके स्थान में लालचन्दन लेवे। भिलावे के अभाव में चीतामूल, ईख के अभाव में नल, मद्य के अभाव में शिण्डाकी तथा शुक्त (सिरका) के अभाव में कांजी लेवे॥

चित्रकाभावतो दन्ती क्षारः शिखरिजोऽथवा ।
अभावे धन्वयासस्य प्रक्षेप्या तु दुरालभा ॥ १०५ ॥
अहिंस्राया अभावे तु मानकन्दः प्रकीर्त्तितः ।
लक्ष्मणाया अभावे तु नीलकण्ठ-शिखा मता ॥ १०६ ॥

चीते के अभाव में दन्ती की जड़ अथवा चिरचिरे का खार लेवे। धमासे के अभाव में जवासा लेवे। कण्टकपाली के अभाव में माण-कन्द तथा लक्ष्मणा के अभाव में मोरशिखा ग्रहण करे॥१०५-१०६॥

बकुलाभावतो देयं कह्लारोत्पल-पङ्कजम् ।
नीलोत्पलस्याभावे तु कुमुदं देयमिष्यते ॥ १०७ ॥
जातीपुष्पं न यत्रास्ति लवङ्गं तत्र दीयते ।
अर्कपर्णादि-पयसो ह्यभावे तद्रसो मतः ॥ १०८ ॥

मौलसरी के न मिलने पर लाल कमल या सफेद कमल जो चांदनी में खिलता है देवे। नील कमल के अभाव में कुमुद लेवे। जाती यानी चमेली के फूल न मिले तो लौंग लेवे। आंक के पत्ते या दूध न मिले तो उसका रस ग्रहण करे ॥ १०७–१०८ ॥

पौष्कराभावतः कुष्ठं तथा लाङ्गल्यभावतः ।
स्थौणेयकस्याभावं तु भिषग्भिर्दीयते गदः ॥ १०९ ॥
कुङ्कुमाभावतो दद्यात् कुसुम्भकुसुमं नवम् ।
श्रीखण्डचन्दनाभावे कर्पूरं देयमिष्यते ॥ ११० ॥
अभावे त्वेतयोर्वैद्यः प्रक्षिपेद्रक्तचन्दनम् ।
रक्तचन्दनकाभावे नवोशीरं विदुर्बुधाः ॥ १११ ॥

पोहकरमूल तथा लाङ्गली विष-कलिहारी के अभाव में कूठ लेवे। यदि स्थौणेयक या थुनेर न मिले तो भी कूठ लेवे। केसर के न मिलने पर कुसुंभ के नये फूल देवे तथा श्रीखण्ड चन्दन के के अभाव में कपूर देवे। यदि श्रीखण्ड चन्दन या कपूर भी न हो तो वैद्य लालचन्दन को ग्रहण कर ले। लालचन्दन के अभाव में नया खस ग्रहण कर लेवे ॥ १०९–१११ ॥

मुस्ता चातिविषाभावे शिवाभावे शिवा मता ।
अभावे नागपुष्पस्य पद्मकेशरमिष्यते ॥ ११२ ॥
मेदाजीवककाकोली ऋद्धिद्वन्द्वेऽपि वासति ।
वरीविदार्यश्वगन्धा वाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत् ॥११३॥

अतीस के अभाव में मोथा, हरड़ के अभाव में आमला तथा नागकेसर के अभाव में पद्मका केसर ग्रहण करे। मेदा और महामेदा के अभाव में शतावर, जीवक और ऋषभक के अभाव में विदारीकन्द, काकोली तथा क्षीरकाकोली के अभाव में असगन्ध और ऋद्धि तथा वृद्धि के अभाव में वाराहीकन्द ग्रहण करे ॥ ११२–११३ ॥

सुवर्णाभावतः स्वर्णमाक्षिकं प्रक्षिपेद् बुधः ।
श्वेतं तु माक्षिकं ज्ञेयं बुधै रजतवद् ध्रुवम् ॥ ११४ ॥
माक्षिकस्याप्यभावे तु प्रदद्यात् स्वर्णगैरिकम् ।
सुवर्णमथवा रौप्यं मृतं यत्र न लभ्यते ॥ ११५ ॥

तत्र कान्तेन कर्माणि भिषक् कुर्याद्विचक्षणः ।
कान्ताभावे तीक्ष्णलौहं योजयेद्वैद्यसत्तमः ॥ ११६ ॥

सोना के अभाव में सोनामाखी लेवे । चान्दी के अभाव में रूपामाखी लेवे । यदि ये माक्षिक न मिलें तो उनके स्थान पर सोनागेरू ग्रहण करे । जहां कहीं सोना अथवा चान्दी मरे हुए न मिलें, वहां बुद्धिमान् वैद्य कान्तलोह के भस्म से ही काम कर ले । कान्तलोह के अभाव में तीक्ष्णलोह लेवे ॥ ११४-११६ ॥

मत्स्यण्ड्यभावतो दद्युर्भिषजः सितशर्कराम् ।
असम्भवे सितायास्तु बुधैः खण्डं प्रयुज्यते ॥ ११७ ॥

मत्स्यण्डी याने मिश्री के अभाव में साफ सफेद शक्कर लेवे तथा शक्कर न मिलने पर खाँड लेवे ॥ ११७ ॥

सौराष्ट्र्यभावतो देया स्फटिका तद्गुणा जनैः ।
तालीश-पत्रकाभावे स्वर्णताली प्रशस्यते ॥ ११८ ॥
भार्ग्यभावे तु तालीशं कण्टकारीजटाऽथवा ।
रुचकाभावतो दद्याद् लवणं पांशुपूर्वकम् ॥ ११९ ॥

सौराष्टी मृत्तिका के अभावमें उसके समान गुणवाली फिटकरी देवे । तालीसपत्र के अभाव में स्वर्णताली लेना अच्छा है । भारंगी न मिले तो तालीसपत्र अथवा कटेहली की जड़ ग्रहण करे । काला नोन के अभाव में पांसुनोन देवे ॥ ११८-११९ ॥

अभावे मधुयष्टयास्तु धातकीञ्च प्रयोजयेत् ।
अम्लवेतसकाभावे चुक्रं दातव्यमिष्यते ॥ १२० ॥
द्राक्षा यदि न लभ्येत प्रदेयं काश्मरीफलम् ।
तयोरभावे कुसुमं बन्धूकस्य मतं बुधैः ॥ १२१ ॥

मुलेठी के अभाव में धाय के पुष्प का प्रयोग करे । अमलवेत के न मिलने पर चुक या चूका लेवे । दाख के अभाव में गम्भारी फल

ग्रहण करे। यदि दोनों ही न मिलें तो उनके स्थान में दुपहरिया के फूल का प्रयोग करते हैं ॥ १२०-१२१ ॥

लवङ्गकुसुमं देयं नखस्याभावतः पुनः।
कस्तूर्यभावे कक्कोलं क्षेपणीयं विदुर्बुधाः ॥ १२२ ॥
कक्कोलस्याप्यभावे तु जातीपुष्पं प्रदीयते ।
सुगन्धि मुस्तकं देयं कर्पूराभावतः बुधैः ॥ १२३ ॥
कर्पूराभावतो देयं ग्रन्थिपर्णं विशेषतः ।
यदि न स्याद् दारुनिशा तदा देया निशा बुधैः ॥१२४॥

नख के अभाव में लौंग का फूल देना चाहिये, कस्तूरी के अभाव में कक्कोल देना पण्डित लोगों का मत है। कक्कोल के अभाव में चमेली का फूल लेवे, कपूर के अभाव में सुगन्धित नागरमोथा देना चाहिये। खास कर कपूर के अभाव में गठिवन का व्यवहार करे। यदि दारुहल्दी न मिले तो उस जगह खाने की हल्दी ले लेवे ॥

रसाञ्जनस्य चाप्राप्तौ दार्वीक्काथं प्रयोजयेत् ।
कर्पूरस्याप्यभावेऽपि सुगन्धं मुस्तमिष्यते ॥ १२५ ॥
कस्तूरीणामभावे तु ग्राह्या गन्धशटी बुधैः ।
अभावे कोकिलाक्षस्य गोक्षुरबीजमिष्यते ॥ १२६ ॥

रसाञ्जन के न मिलने पर दारुहल्दी के काढ़े का प्रयोग करे तथा कपूर के अभाव में सुगन्ध मोथा देवे। कस्तूरी के अभाव में गन्धशटी का ग्रहण करे तथा तालमखाने की अप्राप्ति में गोखरू के बीज का ग्रहण करे ॥ १२५-१२६ ॥

ऋद्ध्यभावे बला ग्राह्या वृद्ध्यभावे महाबला ।
मेदाभावे चाश्वगन्धा महामेदे तु शारिवा ॥ १२७ ॥
जीवकर्षभकाभावे गुडूची-वंशलोचने ।
काकोली-युगलाभावे निक्षिपेच्च शतावरीम् ॥ १२८ ॥

ऋद्धि के अभाव में बला का जड़ लेवे, वृद्धि के अभाव में महाबला, मेदा के अभाव में असगन्ध, महामेदा के स्थान में शारिवा लता, जीवक के अभाव में गिलोय, ऋषभक के अभाव में वंशलोचन तथा दोनों काकोली के अभाव में शतावर डाले। (ये अष्टवर्ग के प्रतिनिधि मतान्तर के हैं, पर यह मत अधिक प्रचलित नहीं है और न इसे वैद्य व्यवहार में ही लाते हैं। ऊपर ११३ श्लोक में कथित प्रतिनिधि ही सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं) ॥ १२७-१२८ ॥

अन्तःसम्मार्ज्जने ज्ञेया ह्यजमोदा यमानिका ।
बहिःसम्मार्ज्जने सैव विज्ञातव्याऽजमोदिका ॥ १२९ ॥

यदि शरीर के भीतर की शुद्धि करनी हो और उस जगह यदि अजमोद लिखा हो तो अजमोद न लेकर अजवायन लेवे; पर बाहर की शुद्धि के लिये हो तो अजमोद की जगह अजमोद ही लेवे ॥१२९॥

यत्र यद् द्रव्यमप्राप्तं भेषजे परपूर्वतः ।
ग्राह्यं तद्गुणसाम्यात् तु न तत्र क्वापि दूषणम् ॥ १३० ॥

जिस योग में जो द्रव्य न मिले उसकी जगह उसी के समान गुणों वाली दूसरी दवा ले लेवे, इसमें कोई दोष नहीं ॥ १३० ॥

अन्यानि यानीह रसायनादौ योगे च वस्तूनि च कीर्त्तितानि ।
तेषामलाभेन च वृद्धवैद्य-प्रसिद्धितस्तानि हरन्ति वैद्याः॥१३१॥

अन्यान्य जो दवाएँ रसायनादि के प्रयोग में कहे गये हैं, यदि वे न मिलें तो उनके स्थान में वृद्ध-वैद्यों के मतानुसार, जैसी प्रसिद्धि हो ग्रहण करे ॥ १३१ ॥

अत्र प्रोक्तानि द्रव्याणि यानि तेषु च तेषु च ।
योज्यमेकतराभावेऽपरं वैद्येन जानता ॥ १३२ ॥
रसवीर्यविपाकाद्यैः समं द्रव्यं विचिन्त्य च ।
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्याणां तु रसादिवित् ॥ १३३ ॥

यहां पर जिन के अभाव में जिन वस्तुओं का प्रयोग कहा गया है। शास्त्रज्ञ वैद्य उनमें से एक के न मिलने पर दूसरे का ग्रहण कर लेवे। जहां नहीं कहे गये हैं अथवा यदि प्रतिनिधि भी न मिल सके तो रसादि को जानने वाला ओषधितत्त्वज्ञ वैद्य उन के स्थान में दूसरी वस्तु जो रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव आदि बातों में समान हो, विचार कर प्रयोग करे॥ १३२-१३३॥

योगे यदप्रधानं स्यात् तस्य प्रतिनिधिर्मतः।
यत्तु प्रधानं तस्यापि सदृशं नैव गृह्यते॥ १३४॥

योगों में जो अप्रधान दवाएँ हैं सिर्फ उन्हीं की प्रतिनिधि ली जाती है। जो प्रधान दवा होती है, उसकी प्रतिनिधि नहीं ली जाती॥

व्याधेरयुक्तं यद् द्रव्यं गणोक्तमपि तत्त्यजेत्।
अनुक्तमपि युक्तं यद्योजयेत्तद्रसादिविद्॥ १३५॥

इति परिभाषाप्रदीपे प्रथमः खण्डः।

रस-वीर्य-विपाक आदि को जानने वाला ओषधितत्वज्ञ वैद्य को चाहिये, कि जो दवा रोगी के रोग को बढावे उसे गणोक्त होने पर भी निकाल दे तथा न कहे रहने पर भी जो द्रव्य रोगी के लिये हितकर हो, उसे विचार कर योग में शामिल कर देवे॥ १३५॥

प्रथमखण्ड की भाषा-टीका समाप्त।

द्वितीयः खण्डः

पञ्चविधकषायमाह—

स्वो रसः स्वरसः प्रोक्तः कल्को दृषदि पेषितः।
क्वथितस्तु शृतः शीतः शर्वरीमुषितो मतः॥ १ ॥
क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितः फाण्ट इत्यभिधीयते।
पञ्चैताश्च समुद्दिष्टाः कषायाणां प्रकल्पनाः।
गुरवः स्युर्यथापूर्वं लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥ २ ॥

वस्तु का जो निजी रस है, वह स्वरस है, सिल पर पीसने से कल्क या लुगदी होती है, जल में औटाने से वह जल उसका क्वाथ कहलाता है, जल के साथ रात भर भिगो रखने से वह जल शीत कहलाता है तथा गरम जल में डाल कर मथने से वह जल फाण्ट कहा जाता है। ये पांच तरह के कषाय बनाने की विधियां हैं। पहले पहले दूसरे दूसरे से भारी तथा दूसरे दूसरे पहले पहले से हलके होते हैं; याने स्वरस से कल्क, कल्क से क्वाथ, क्वाथ से शीत तथा शीत फांट हलके होते हैं तथा फाण्ट से शीत, शीत से क्वाथ, क्वाथ से कल्क और कल्क से स्वरस भारी होते हैं ॥ १-२ ॥

स्वरसमाह—

सद्यः क्षुण्णार्द्रद्रव्यस्य वस्त्रयन्त्रादिपीडनात्।
यो रसस्त्वभिनिर्याति स्वरसः स प्रकीर्त्तितः॥ ३ ॥

तुरन्त ही कुटी हुई गीली वस्तु को यन्त्र अथवा कपड़े की पोटली में रख कर निचोड़ने से जो रस निकलता है, वही 'स्वरस' कहाता है॥ ३ ॥

अन्यच्च—

आहृत्य तत्क्षणाकृष्टात् क्षुण्णाद् द्रव्यात् समुद्धरेत्।
वस्त्रनिष्पीडितो यस्तु स्वरसो रस उच्यते ॥ ४ ॥

न बिगड़ी हुई गीली दवा जो तत्क्षण उखाड़ कर लायी गयी तथा कुटी गयी हो, उसे कपड़े में रख कर निचोड़ने से, जो रस निकल आता है वही 'स्वरस' कहाता है ॥ ४ ॥

कुडवं चूर्णितं द्रव्यं क्षिप्तं तद् द्विगुणे जले ।
अहोरात्रं स्थितं तस्मात् भवेद्वा रस उत्तमः ॥ ५ ॥

ऊपर गीले द्रव्य की स्वरस विधि कही है, अब शुष्क द्रव्य की विधि कहते हैं। एक कुडव सूखी दवा ले कूटे, फिर दुगुने जल में डाल कर एक रात-दिन रहने दे, फिर उसे मसल, कपड़े में रख कर निचोड़ ले। यह भी उत्तम स्वरस बनता है। यह दूसरी विधि है ॥ ५ ॥

अन्यच्च—

आदाय शुष्कं द्रव्यं वा स्वरसानामसम्भवे ।
जलेऽष्टगुणिते साध्यं पादशिष्टन्तु गृह्यते ॥ ६ ॥

स्वरस वाली गीली दवाओं के न मिलने पर सूखी ही ले लेवे और अठगुने जल में डाल औटावे। चौथाई रहने पर उतार कर छान ले। यह भी स्वरस होता है। यह तीसरी विधि है। यह श्लोक शार्ङ्गधर का है ॥ ६ ॥

अस्य पानमात्रामाह—

स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्द्धं प्रयोजयेत् ।
निशोषितञ्चाग्निसिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत् ॥ ७ ॥

स्वरस की मात्रा—जो स्वरस खास द्रव्य से ही निकलते हैं वे भारी होते हैं, इसलिये उनकी आधा पल याने दो तोले की मात्रा का प्रयोग करे; पर जो स्वरस दिन रात भर भिगों कर बनाये जाते हैं या जल में औटा कर बनाये जाते हैं, वे कुछ हल्के होने की वजह से उनकी एक पल की मात्रा का प्रयोग करे ॥ ७ ॥

स्वरसभेदात् पुटपाकविधिमाह—

पुटे पक्वस्य द्रव्यस्य स्वरसो गृह्यते यतः ।
अतोऽयं पुटपाकः स्याद् विधानं तस्य कथ्यते ॥ ८ ॥

द्रव्यों को पुट में पका कर उस का स्वरस ग्रहण किया जाता है; इसलिये इसे 'पुटपाक' कहते हैं। इसका विधान कहते हैं ॥ ८ ॥

द्रव्यमापोथितं जम्बूवटपत्रादिसम्पुटें ।
वे ष्टयित्वा ततो बद्ध्वा दृढं रज्ज्वादिना तथा ॥ ९ ॥
मृल्लेपं द्व्यङ्गुलं कुर्यादथवाङ्गुलिमात्रकम् ।
दहेत् पुटान्तरादग्नौ यावल्लेपस्य रक्तता ॥ १० ॥

द्रव्य को जल में पीस कर लुगदी बना लेवे। फिर उसे गोला बना जामुन या बड़ आदि के पत्तों के सम्पुट से लपेट कर डोरे से अच्छी तरह बांध देवे। फिर उसके ऊपर दो अंगुल अथवा एक ही अंगुल मोटा मिट्टी का लेप कर देवे और ऊपर नीचे आरने कंडों की आग रख कर पुट देवे। जब ऊपर की मिट्टी का रंग लाल हो जावे, तो पुट को सिद्ध हुआ जाने ॥ ९-१० ॥

अन्यच्च—

पुटपक्वस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः ।
अतस्तु पुटपाकानां युक्तिरत्रोच्यते मया ॥ ११ ॥
पुटपाकस्य मात्रेयं लेपस्यारुणवर्णता ।
लेपश्च द्व्यङ्गुलं स्थूलं कुर्य्याद्वाऽङ्गुलिमात्रकम् ॥ १२ ॥
काश्मरीवटजम्ब्वादि-पत्रैर्वेष्टनमुत्तमम् ॥ १३ ॥

क्योंकि पुटपक्व द्रव्यों से भी स्वरस ग्रहण किया जाता है, इसलिये पुटपाकों की युक्ति यहाँ कहता हूँ। पुटपाक के सिद्ध होने का यही लक्षण है, कि लेप का रंग लाल हो जावे। लेप दो अंगुल अथवा एक ही अंगुल मोटा होना चाहिये। यहां ऐसा जाने कि

जब द्रव्य अधिक हो, तो एक अंगुल मोटा लेप से ही काम बन जायगा; पर कम द्रव्य होने से द्रव्य के जल जाने की आशंका हो सकती है, अतः लेप दो अंगुल मोटा होना चाहिये। ये श्लोक शार्ङ्गधर के हैं। गम्भारी, वट, जामुन आदि के पत्र भी ऊपर लपेटने में उत्तम हैं॥ ११–१३॥

कल्कमाह—

द्रव्यमात्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा जलमिश्रितम्।
तदेव सूरिभिः पूर्वैः कल्क इत्यभिधीयते॥
आवापस्त्वथ प्रक्षेपस्तस्य पर्याय उच्यते॥ १४॥

गीला द्रव्य अथवा जल मिला सूखा द्रव्य जो सिल पर पीस कर लुगदी सी बनाली जाती है, उसे ही पण्डित जन 'कल्क' के नाम से पुकारते हैं। उसके दूसरे नाम आवाप और प्रक्षेप भी हैं

कल्कस्यैषद्भेदाच्चूर्णमाह—

अत्यन्तशुष्कं यद् द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम्।
चूर्णं तच्च रजः क्षोदस्तस्य पर्याय उच्यते॥ १५॥

जो द्रव्य बिलकुल सूखा हो, उसे कूट पीस कर महीन कपड़े में छान लेने से 'चूर्ण' कहाता है। रजः और क्षोद उसके पर्याय याने एकार्थवाची शब्द हैं॥ १५॥

अन्यच्च—

द्रव्यमात्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्।
प्रक्षेपावापकल्कास्ते तन्मानं कर्षसम्मितम्॥ १६॥

द्रव्य गीले या सूखे जल मिले सिल पर पीस लिये जाने से प्रक्षेप, आवाप तथा कल्क कहलाते हैं। उनकी मात्रा एक तोले की है॥

कल्के मधु घृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया।
सितां गुडं समं दद्याद् द्रवा देयाश्चतुर्गुणाः॥ १७॥

कल्क में यदि शहद, घी तथा तेल मिलाना हो तो कल्क से दुगुना मिलावे, यदि शक्कर अथवा गुड़ डालना हो, तो कल्क के समान देवे तथा द्रवपदार्थ जल अथवा दूध आदि मिलाना हो, तो कल्क से चौगुना लेकर मिलावे ॥ १७ ॥

क्वाथमाह शार्ङ्गधरः—

पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत् ।
मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम्* ॥१८॥
तज्जलं पाययेद्धीमान् कोष्णं मृद्वग्निसाधितम् ।
शृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते ॥ १९ ॥

द्रव्य को कूट कर एक पल लेकर उसमें सोलह गुना जल डाल कर मिट्टी के बर्त्तन में औटावे । जब चौथाई शेष रहे तो उतार कर छान ले । इस मन्दी आँच से औटाये जल को बुद्धिमान वैद्य गुनगुना ही पान करावे । इसी के नाम शृत, क्वाथ, कषाय और निर्यूह हैं ॥ १८-१९ ॥

आहाररसपाके च सञ्जाते द्विपलोन्मितम् ।
वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत् क्वाथं सुपाचितम् ॥ २० ॥

भोजन के अच्छी तरह पच जाने पर, वृद्ध, वैद्यों के उपदेशानुसार, भले प्रकार से औटाया हुआ काढ़ा दो पल की मात्रा में पीवे ॥ २० ॥

क्वाथे क्षिपेत् सितामंशैश्चतुरष्टकषोडशैः ।
वातपित्तकफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम् ॥ २१ ॥

काढ़े में शक्कर—वात-विकार में चौथाई, पित्तविकार में अष्टमांश तथा कफविकार में सोलहवां भाग मिलावे; पर शहद मिलाना

* 'क्वाथः स्यात्पादशेषितः' यह मतान्तर है । पर पादशेष और अष्टमांश शेष मृदु और कठिन द्रव्य भेद से समझना चाहिये । इस तरह ये दोनों ही परिभाषा ठीक हैं ।

हो, तो इसके विपरीत यानी वात-विकार में सोलहवां भाग, पित्त-विकार में आठवां भाग तथा कफ-विकार में चौथाई भाग मिलावे ॥२१॥

अन्यच्च—

द्रव्यादापोथितात्तोये वह्निना परिपाचितात् ।
निःसृतो यो रसः पूतः स शृतः समुदाहृतः ।
क्वाथः कषायो निर्यूहः पर्यायस्तस्य कीर्त्तितः ॥२२॥

कूटी हुई दवा में जल मिला आग पर औटा, मसल कर छान लेने से जो रस निकल आता है, उसे शृत कहते हैं। क्वाथ, कषाय और निर्यूह इसके दूसरे नाम हैं ॥ २२ ॥

शीतमाह—

क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम् ।
शर्वरीमुषितं सम्यग् ज्ञेयः शीतकषायकः ॥ २३ ॥

कूटा हुआ द्रव्य एक पल ले, छः पल जल मिला कर रात भर रखे; सुबह मसल कर छान ले, तो 'शीतकषाय' तैयार हो जाता है ॥२३॥

अवान्तरभेदात् तण्डुलोदकमाह—

तण्डुलं कणशः कृत्वा पलं ग्राह्यं हि तण्डुलात् ।
चतुर्गुणं जलं देयं तण्डुलोदककर्म्मणि ॥ २४ ॥

चावलों को जौकुट कर, एक पल ले चौगुने जल में डाल कर भिगो रखे कुछ घंटे बाद मसल कर छान ले । यह 'तण्डुलोदक' है॥

अन्येऽप्याहुः—

शीतकषायमानेन तण्डुलोदककल्पना ॥ २५ ॥

दूसरों का मत है, कि शीतकषाय के अनुसार याने छः गुना जल डाल, रात भर भिगो कर, मसल, छान लेना ही तण्डुलोदक की विधि है ॥ २५ ॥ *

---

* मतान्तर में अष्टगुण जल लेना भी लिखा है ।

फाण्टमाह—

क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग् जलमुष्णं विनिक्षिपेत् ।
पात्रे चतुःपलमितं ततस्तु स्रावयेज्जलम् ॥
सोऽयं पूतो द्रवः फाण्टो भिषग्भिरभिधीयते ॥ २६ ॥

कुटे हुए द्रव्य एक पल ले बर्त्तन में रख उसमें चार पल गरम जल देवे। जब सब द्रव्य अत्यन्त गरम हो जावें तो कुछ देर के बाद छान ले। यही छने हुए जल को वैद्य फाण्ट कहते हैं ॥२६॥

विश्वामित्रेण शीतफाण्टयोर्लक्षणमुक्तम् ।

तद्यथा—

षड्भिः पलैश्चतुर्भिर्वा सलिलात् शीतफाण्टयोः ।
आप्लुतं भेषजपलं रसाख्यायां पलद्वयम् ॥ २७ ॥

विश्वामित्र ने शीत तथा फाण्ट के लक्षण कहे हैं, जैसे छः पल अथवा चार पल जल में एक पल दवा डाल कर विधिपूर्वक तैयार करने से क्रमशः शीत तथा फाण्ट बनते हैं। यदि स्वरस की जगह इनसे काम लेना हो, तो दवा दो पल डालनी चाहिये ॥ २७ ॥

प्रसङ्गादुष्णोदकमाह—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा ।
अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥ २८ ॥

अपनी आवश्यकतानुसार जलको अग्नि पर औटा कर अष्टमांश, चतुर्थांश अथवा आधा शेष रहने पर उतार ले; अथवा अच्छी तरह से उबाल ले, तो वह जल 'उष्णोदक' कहलाता है ॥ २८ ॥

क्वाथादेरवान्तरभेदाल्लेहादिकमाह—

क्वाथादेर्यत् पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया ।
अवलेहश्च लेहश्च प्राश इत्युच्यते बुधैः ॥ २९ ॥

क्वाथादिकों को फिरसे पकाकर जो गाढ़ा रस बना लिया जाता

है, उसे पण्डितजन अवलेह, लेह या प्राश कहते हैं। यह चाटने लायक रहता है ॥ २९ ॥

वटको मोदकः पिण्डी गुडो वर्त्तिस्तथा वटी।
वटिका गुडिका चेति संज्ञाऽवान्तरभेदतः ॥ ३० ॥
मात्राच्छायातपच्छेद-वासविश्लेषपेषणैः।
मन्थपीडनसंयोग-जलकालबलाबलैः ॥ ३१ ॥
द्रव्ये गुणान्तराधानं विशिष्टं क्रियते यतः।
तेन मोदकचूर्णादि-वटकाश्च यथाश्रुति ॥ ३२ ॥

वटक, मोदक, पिण्डी, गुड, वर्त्ति, वटी, वटिका, गुडिका, ये सब गोली के ही भिन्न-भिन्न प्रकार के नाम हैं। हैं तो सब गोली ही सी, पर असल में प्रत्येक दूसरे से हर बातों में प्रायः भिन्न ही हैं क्योंकि मात्रा, छाया, धूप, कूटना, छानना, पीसना, मथना, पीडन करना, अन्य दवा के साथ संयोग करना, जल देना, काल तथा द्रव्य का बलाबल, इन प्रत्येक के अन्तर होने से ही, द्रव्यों में विशेष विशेष गुणों का समावेश हो जाया करता है; इसलिये द्रव्य एक ही होने पर भी मोदकादि भेद से उनमें गुणान्तर आ ही जाते हैं। इस कारण से चूर्ण-मोदकादि के गुण भी प्रसिद्धि के अनुसार ही भिन्न २ जानें॥

द्रव्याणां मात्राविधिर्लिख्यते—

स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं बलं वयः।
प्रकृतिं देशदोषौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत् ॥ ३३ ॥
यतो मन्दानला ह्रस्वा हीनसत्त्वा नराः कलौ।
अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसम्मता ॥ ३४॥

हर एक पुरुष तथा व्याधि में बलाबल का भेद रहता है; इस वजह से मात्रा का कोई खास निर्धारित मान नहीं है। वैद्य काल, अग्नि, बल, उम्र, प्रकृति, देश तथा दोष, रोगी के इन बातों का

विचार करके मात्रा नियत करे। क्योंकि कलिकाल में लोग मन्दाग्निवाले तथा हीनसत्व हैं; अतएव उनके योग्य विद्वानों की मानी हुई मात्रा कहते हैं ॥ ३३–३४ ॥

अन्येऽप्याहुः—

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाल्पाम्बु महानलम् ।
दोषवच्चातिमात्रं स्यात् सस्यमत्युदकं यथा ॥ ३५ ॥

जिस तरह अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि को थोड़ा सा जल का छींटा बुझा नहीं सकता, उसी प्रकार कम मात्रा में दवा देने से भी रोग की शान्ति नहीं हो सकती तथा जिस तरह अधिक पानी होने से भी फसल नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार दवा को अधिक मात्रा में देना भी दोषावह है; उससे रोगी को लाभ होने के बजाय हानि ही होती है—उसका नाश हो जाता है ॥ ३५ ॥

अन्यच्च—

मात्रया हीनया द्रव्यं विकारं न निवर्त्तयेत् ।
द्रव्याणामतिबाहुल्याद् व्यापत् सञ्जायते ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

कम खुराक में दी हुई दवा, रोग को कभी भी आराम नहीं कर सकती और ओषधियों को अधिक मात्रा में देने से निश्चय ही विपत्ति आ पड़ती है ॥ ३६ ॥

अन्यच्च—

मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः ।
व्याधिं द्रव्यञ्च कोष्ठञ्च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत् ॥ ३७ ॥

अन्यत्र भी कहा है, कि मात्रा का कोई खास निर्धारण नहीं है, दोष, अग्नि, बल, उम्र, रोग, दवा तथा कोठा, इनके बलाबल को देखकर ही मात्रा निश्चय करे ॥ ३७ ॥

उत्तमस्य पलं मात्रा त्रिभिश्चाक्षैश्च मध्यमे ।

जघन्यस्य पलार्द्धेन स्नेहक्वाथ्यौषधेषु च ॥ ३८ ॥

उपर्युक्त बातों के विचार से जो पुरुष उत्तम बल युक्त हो, उसे एक पल की मात्रा; जो पुरुष मध्यम बल युक्त होवे, उसे तीन कर्ष की मात्रा तथा जो पुरुष हीनबल हो, उसे दो कर्ष की मात्रा देवे। यह मात्रा-प्रमाण स्नेह और क्वाथों के लिये है ॥ ३८ ॥

सार्द्धं पलं पलञ्चार्द्धं विदध्याद् गुडखण्डयोः ।
श्रेष्ठमध्यमहीनेषु मात्रेयं मुनिभिः कृता ॥
अत्र स्यात् सौश्रुतं पञ्चरक्तिमाषात्मकं पलम् ॥३९॥

अब गुड़ और खण्ड नाम की दवाओं की मात्रा कहते हैं—श्रेष्ठ याने उत्तम बल वाले को डेढ़ पल, मध्य को एक पल तथा हीनबल को आधा पल की मात्रा देवे। यह ऋषियों ने निर्धारित किया है। यहां पांच रत्ती में माशा होने वाले सुश्रुत के मान से पल ग्रहण करना चाहिये ॥ २९ ॥

मोदकं वटकं लेहं कर्षमात्रं प्रयोजयेत् ।
कर्षद्वयं पलं वापि देयं कोष्ठाग्न्यपेक्षया ॥ ४० ॥

मोदक, वटक तथा लेह की साधारण मात्रा एक तोले की है, पर कोष्ठ और अग्नि आदि का विचार करके दो तोले या एक पल की मात्रा भी दी जा सकती है ॥ ४० ॥

श्रेष्ठमध्यमहीनेषु द्वादशाष्टचतुष्टयैः ।
माषकैर्गुग्गुलोर्मात्रां कोष्ठं वीक्ष्यावतारयेत् ॥ ४१ ॥

उत्तम, मध्यम और हीन बल वाले पुरुषों को क्रम से बारह मासे, आठ मासे और चार मासे की गूगल की मात्रा, कोठे आदि का विचार करके प्रयोग करे ॥ ४१ ॥

गुञ्जामात्रं रसं देवि ! हेमजीर्णञ्च भक्षयेत् ।
तारं त्रिगुञ्जकं प्रोक्तं रविजीर्णं द्विगुञ्जकम् ॥ ४२ ॥

लोहाभ्रनागवङ्गानां खर्परस्य शिलाजतोः ।
षड्गुञ्जाप्रमिता मात्रा मलोपरसमाषकम् ॥ ४३ ॥
कांस्यपित्तलयोर्मानं भक्षयेत् ताम्रजीर्णवत् ।
यवमात्रं विषं देवि ! गुञ्जामात्रन्तु कुष्ठिने ॥ ४४ ॥
वज्रं यवद्वयमितं तालकं यवसप्तकम् ।
ततो बुद्ध्वा भिषग् दद्यात् प्रायो मात्रेति कीर्त्तिता ॥४५॥

रसादिकों की मात्रा–महादेवजी पार्वती जी से कहते हैं, कि हे देवि ! पारा तथा स्वर्ण की भस्म एक रत्ती की मात्रा खावे, चाँदी तीन रत्ती तथा ताम्रभस्म दो रत्ती भक्षण करे। लोह, अभ्रक, सीसा, रांगा, खपरिया, इनके भस्म तथा शिलाजीत, इनकी मात्रा छः रत्ती की है। लोहादिकों का मल तथा उपरस हिंगुलादि की मात्रा एक मासे की है। काँसो तथा पीतल के भस्म की मात्रा ताम्रभस्म जैसी (दो रत्ती की) है। विष की मात्रा जौ भर की है, पर कोढ़ी को एक रत्ती की मात्रा देवे। हीराभस्म की मात्रा दो जौ की तथा हरताल भस्म की मात्रा सात जौ की है। यह मात्रा प्रायिक है। बुद्धिमान् वैद्य इसे भी विचारपूर्वक ही देवे ॥४२–४५॥

कालिंगमागधमानयोः प्रयोगविवेचना—

कालिङ्गं सौश्रुतं मानं पञ्चरक्तिकमानतः ।
दशरक्तिकमानन्तु मागधं चरकेरितम् ॥ ४६ ॥
तयोर्मागधमानन्तु प्रशंसन्ति भिषग्वराः ।
कालिङ्गं शुद्धलोहादि द्रव्यस्य कल्पने मतम् ।
कषायोऽनुवासनादि–द्रव्यादाने तु मागधम् ॥ ४७ ॥

कालिंग मान जो सुश्रुत का कहा हुआ है पांच रत्ती का मासा मानता है, पर चरकोक्त मागध मान से दस रत्ती का मासा होता है। इन दोनों मानों में से मागध मान को ही वैद्य श्रेष्ठ मान

कर ग्रहण करते हैं। शुद्ध लोह आदि धातुओं के प्रयोग आदि में कालिंग मान तथा कषाय और अनुवासन आदिके दवाओं की कल्पना में मागध मान अधिक उपयोगी और श्रेष्ठ है* ॥ ४६-४७ ॥

पाचनादौ जलपरिमाणमाह—

कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम् ।
ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत् ॥ ४८ ॥
चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं भवेत् ।
क्वाथ्यद्रव्यपले कुर्यात् प्रस्थार्द्धं पादशेषितम् ॥ ४९ ॥

पाचन आदि के सिद्ध करने में, एक कर्ष से एक पल तक के द्रव्य में सोलह गुना जल डाल कर सिद्ध करे; एक पल से कुडव तक के द्रव्य में अठगुना जल डाले। इससे ऊपर प्रस्थादिक मान में चौगुना पानी डालकर पाचनादि सिद्ध करे। क्वाथ करने की दवा यदि एक पल हो, तो आधाप्रस्थ याने अठगुना जल डाल कर चौथाई जल शेष रक्खे ॥ ४८-४९ ॥

मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं भवेत् ।
कठिनात् कठिनं यच्च दद्यात् षोडशिकं जलम् ॥ ५० ॥
मृद्वादिद्रव्यसङ्घाते मानानुक्तौ चिकित्सकाः ।
मध्यस्थोभयभागित्वादिच्छन्त्यष्टगुणं जलम् ॥ ५१ ॥

यदि कुडव से ऊपर द्रव्य हो तो, अति कोमल होने पर चौगुना जल, कठिन होने पर अठगुना तथा अति कठिन होने पर सोलह गुना जल डालकर पाक करे। यदि किसी पाचन में मृदु, कठिन तथा अति कठिन द्रव्यों का संयोग हो, पर जल देने की मात्रा न कही हो, तो वहां पर मध्यम मान याने अठगुना जल

---

*उधर ६ रत्तियों का मागध मासा एवं ९६ रत्तियों का मागध कर्ष तथा ८ रत्तियों का कालिंग मासा व ८० रत्तियों का कालिंग कर्ष दिखा आये हैं।

लेकर ही पाचन सिद्ध करले; क्योंकि मध्य का ग्रहण करने से दोनों ओर का ग्रहण प्रायः हो जाता है ॥ ५१–५१ ॥

जलपरिमाणप्रसङ्गतः पाचनानां द्रव्यपरिमाणमाह—

दशरक्तिकमानेन गृहीत्वा तोलकद्वये ।
दत्त्वाम्भः षोडशगुणं ग्राह्यं पादावशेषितम् ।
इमां मात्रां प्रकुर्वन्ति भिषजः पाचनेषु च ॥ ५२ ॥

दस रत्ती के मासा वाले मान से दो तोला द्रव्य ले सोलह गुने पानी में याने ३२ तोले पानी में पकावे । जब चौथाई याने ८ तोले जल शेष रहे, तो उतार कर छान लेवे । यह मात्रा पाचन आदि में वैद्यों को व्यवहार करना चाहिये ॥ ५२ ॥

यवाग्वादिसाधने जलभेषजयोः परिमाणमाह—

क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके ॥ ५३ ॥
पादावशेषे तेनाथ यवाग्वाद्युपकल्पयेत् ।
यूषांश्च रसकांश्चैव कल्पेनानेन साधयेत् ॥ ५४ ॥

क्वाथ करने के लिये द्रव्य चार पल लेकर कूट ले, फिर उसमें एक आढ़क याने ६४ पल जल डालकर पकावे । चौथाई शेष रहने पर उतार छान लेवे । इसी क्वाथ से फिर यवागू आदि का पाक करे । यूष और रस आदि का पाक भी इसी तरह सोलह गुना जल डाल कर चौथाई शेष वाले क्वाथ से करे ॥ ५३–५४ ॥

यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते ।
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि ॥ ५५ ॥
अर्द्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ ॥ ५६ ॥

यदि षडङ्ग क्वाथ बनाना हो अथवा क्वाथ से मण्ड, पेया, यवागू आदि साधना हो, तो एक कर्ष द्रव्य लेकर प्रस्थ भर जल में साधे और आधा बचे रहने पर उतार छान लेवे । इससे फिर मण्ड या पेया आदि जो कुछ बनाना हो, पाक कर लेवे ॥ ५५–५६ ॥

कल्कसाध्यां पेयामाह केशरीटीकाकारः—

कर्षार्द्धं वा कणाशुण्ठ्योः कल्कद्रव्यस्य वा पलम् ।
विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापरान् ॥ ५७ ॥

पीपल तथा सोंठ मिलाकर आधा कर्ष ले अथवा अन्य कल्क द्रव्य एक पल लेकर एक प्रस्थ जल डालकर युक्तिपूर्वक पाक करे और उससे पेयादि तैयार कर ले । यहां पर कई टीकाकार कहते हैं, कि 'कल्क द्रव्य' से चावलादि जिनसे पेयादि साधी जाती है, लेना चाहिये; पर अन्यों का मत है, कि कणा-शुण्ठी से तीक्ष्ण द्रव्य तथा कल्क से मृदु द्रव्यों का उपलक्षण किया गया है । हमारी समझ में यही ठीक मालूम पड़ता है क्योंकि दो 'वा' द्वारा विकल्प किया गया है तथा चावलादि ग्रहण तो रोगी के अग्नि के अनुसार ही होगा तथा जल की मात्रा भी उसी के अनुसार कम ज्यादा होगी । सार यह कि तीक्ष्ण द्रव्य आधा कर्ष अथवा मृदु द्रव्य एक पल ग्रहण कर (यहां पल कालिंग मान से लेवे) रोगी के अग्निबल के अनुसार पेयादि साधने का द्रव्य लेवे तथा जितना पतला या गाढ़ा रखना हो उसीके मुताबिक जल लेवे, जिससे चावल आदि सब सिद्ध भी हो जाँय तथा पेया, यूष या रस आदि जो आप बना रहे हों आपकी इच्छानुसार गाढ़ा या पतला हो जाँय । यहाँ पर अनेक शास्त्रार्थ है जो खास कोई आवश्यक न होने के कारण दिया नहीं गया ॥ ५७ ॥

यवागूसाधने तण्डुलप्रकारमाह—

यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् ॥ ५८ ॥

यवागू साधन के लिये, साधारण अवस्था में वह मनुष्य जितना चावल खाता हो, उसकी चौथाई ग्रहण करे तथा कूटकर उससे यवागू साधन करे ॥ ५८ ॥

अन्नादिसाधने जलपरिमाणमाह—

अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे ।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥ ५६ ॥

यदि अन्न सिद्ध करना हो तो पांच गुना जल, विलेपी के लिये चौगुना, मंड के लिये चौदह गुना तथा यवागू के लिये छः गुना जल लेकर सिद्ध करे ॥ ५९ ॥

मण्डादिलक्षणमाह—

सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।
यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ॥ ६० ॥

चावल आदि के कण जिसमें बिलकुल न हों वह मण्ड, जिसमें सामान्य कण हों वह पेया, जो बहुत कण वाली हो वह यवागू तथा जिसमें तरल अंश कम हो और लिपटने वाली हो, वह विलेपी कहलाती है ॥ ६० ॥

अन्यच्च—

यवागूः षड्गुणे तोये सिद्धा स्यात् कृशरा घना ।
तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हि सा ॥ ६० ॥
यवागूर्ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी ॥ ६१ ॥

छः गुने जल में चावल तथा मूंग, उड़द अथवा तिल की जो यवागू गाढ़ी गाढ़ी पकायी जाती है, उसे 'कृशरा' कहते हैं। इसे ही खिचड़ी कहते हैं। यह यवागू हित करनेवाली, मल को रोकने वाली, बल करने वाली, तृप्ति कराने वाली तथा वात को नष्ट करने वाली होती है ॥ ६१ ॥

विलेपी च घना सिक्थैः सिद्धा नीरे चतुर्गुणे ।
विलेपी तर्पणी हृद्या मधुरा पित्तनाशिनी ॥ ६२ ॥

चौगुने जल में सिद्ध की हुई और गाढ़ा गाढ़ा सिक्थवाली

'विलेपी' कहाती है। यह विलेपी तृप्ति करने वाली, हृदय को हित, मीठी तथा पित्त को नष्ट करने वाली होती है॥ ६२॥

द्रवाधिका घना सिक्था चतुर्दशगुणे जले।
सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया यूषः किञ्चिद्घनः स्मृतः॥६३॥

चौदह गुने जल में सिद्ध की हुई तथा बहुत थोड़े कणवाली 'पेया' कहलाती है। यह पीने लायक होती है। इससे कुछ गाढा 'यूष' होता है॥ ६२॥

पेया लघुतरा ज्ञेया ग्राहिणी धातुपुष्टिदा।
यूषो बल्यः स्मृतः कण्ठ्यो लघुपाकः कफापहः॥६४॥

पेया अधिक हल्की, मल को रोकने वाली तथा धातुओं की पुष्टि करने वाली होती है और यूष बल करने वाला, कण्ठ को हितकारी, लघुपाकी और कफ को नष्ट करने वाला होता है॥ ६४॥

जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुःपलम्।
विपचेत् स्रावयेन्मण्डः स भक्तो मधुरो लघुः॥६५॥

चार पल चावल लेकर चौदह गुने जल में पकावे। जब चावल अच्छी तरह से पक जायँ, तो मांड को निथार कर बिलकुल निकाल देवे। यह साधारण भात तैयार हुआ। यह भात मीठा और हलका होता है। जो पसा दिया जाता है वह साधारण मांड है और उसमें मांड के कुछ गुण विद्यमान हैं। (पाश्चात्य पण्डितों का कहना है कि पसा देने से मांड के साथ चावल में रहने वाले जीवद्रव्य या विटामिन जो साधारणतः चावलके ऊपरी सतह पर रहता है चला जाता है)॥ ६५॥

नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः॥ ६६॥

शुद्ध चावलों को चौदह गुने पानी में चुरावे। जब सब चावल चुर जाँय, तो उतार कर छान लेवे। यह शुद्ध मण्ड कहलाता है और पीने लायक बिलकुल मांड जैसा पतला होता है॥ ६६॥

मांसरससाधनविधानमाह—

द्रव्यतो द्विगुणं मांसं सर्वतो द्विगुणं पयः ।
पादस्थं संस्कृतं चाज्ये षडङ्गो यूष उच्यते ॥ ६७ ॥

द्रव्य याने दाल आदि से दुगुना मांस लेवे तथा सबका अठगुना जल डाल कर पकावे। जब चौथाई याने द्रव्यों का दुगुना जल शेष रहे, तो उतार कर छान ले तथा घी का बघार देकर संस्कृत करे। यह षडङ्गमांसयूष हुआ ॥ ६७ ॥

पलानि द्वादशप्रस्थे घनेऽथ तनुके तु षट् ।
मांसस्य वटकं कुर्य्यात् पलमच्छतरे रसे ॥ ६८ ॥

यदि मांस का गाढ़ा रस तैयार करना हो तो बारह पल मांस एक प्रस्थ जल में तथा पतला रस तैयार करना हो तो ६ पल मांस एक प्रस्थ जल में सिद्ध कर पाद शेष उतारे। यदि अत्यन्त पतला मांसरस तैयार करना हो तो एक प्रस्थ जल में एक पल मांस सिद्ध कर पाद शेष उतारे। मांस के बड़े करने हों तो मांस को (उस एक पल मांस को) सीज जाने पर छान कर पीस ले और बड़े बना घी में भून ले फिर उसी छने जल में यथायोग्य पका ले ॥

लाक्षारससाधनमाह—

षड्गुणेनाम्भसा लाक्षा दोलायन्त्रे ह्युपस्थिता ।
त्रिसप्तधा परिस्राव्या लाक्षारसमिदं विदुः ॥ ६९ ॥

लाख को छः गुने पानी के अन्दर दोलायन्त्र में पका कर, इक्कीस बार छान लेने से लाक्षा रस बन जाता है ॥ ६९ ॥

प्रक्षेपविधिमाह—

प्रक्षेपः पादिकः काथ्यात् स्नेहे कल्कसमो मतः ।
परिभाषामिमामन्ये प्रक्षेपेऽप्यूचिरे परम् ॥ ७० ॥

प्रक्षेप याने जो वस्तु (मधु, चीनी आदि) डाली जाती है, उसे

प्रक्षेप कहते हैं। यह प्रक्षेप काढ़े में उसका चौथाई अंश डालना चाहिये। घी, तैल आदि स्नेहपदार्थ में यह परिमाण कल्क के परिमाण के समान ही जानना, जो तैलपाक प्रकरण में कहा हुआ है। अथवा इसी खण्ड के श्लोक १७ के अनुसार प्रक्षेप डालना चाहिये। इस परिभाषा को दूसरों ने प्रक्षेप में कहा है, सो यहां भी कहा गया है ॥ ७० ॥

चूर्णादीनां भक्षणप्रकारमाह—

कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुडिकानाञ्च सर्वशः ।
द्रवशुक्त्या स लेढव्यः पातव्यश्च चतुर्द्रवः ।
मात्रा क्षौद्रघृतादीनां स्नेहक्वाथेषु चूर्णवत् ॥ ७१ ॥

चूर्ण, कल्क, गुडिका अथवा वटिका, यदि एक कर्ष की मात्रा हो तो दो कर्ष शहद आदि द्रव पदार्थ मिलाकर चाटना चाहिये। यदि अन्य पानीय द्रव के साथ पान करना हो तो चौगुना द्रव मिला कर पान कराना चाहिये। घृत-तैलादि स्नेह या काढ़े आदि में भी शहद आदि की मात्रा चूर्ण की जैसी एक कर्ष जानना ॥ ७१ ॥

काथेन चूर्णपानं यत् तत्र काथप्रधानता ।
प्रवर्त्तते न तेनात्र चूर्णापेक्षी चतुर्द्रवः ॥ ७२ ॥

जहां दवा चूर्ण हो और उसे अनुपान काढ़े आदि के साथ पान कराना हो तो वहां पर यह नियम ठीक है याने चौगुना द्रव ले, क्योंकि यहां चूर्ण औषध ही प्रधान है; पर जहां क्काथादि तरल द्रव्य ही प्रधान दवा हो और उसमें चूर्ण आदि प्रक्षेप देना हो तो यह नियम वहां लागू नहीं होता। वहां बल दोष आदि का विचार कर चतुर चिकित्सक अपनी बुद्धि से कल्पना कर प्रक्षेप देवे ॥७२॥

मतान्तरमाह द्रव्यविशेषस्य—

माषिकं हिङ्गु सिन्धूत्थं जरणाद्यास्तु शाणिकाः ।
सितोपलागुडक्षौद्रे सामान्यांशप्रकल्पना ॥ ७३ ॥

क्वाथ आदि में हींग तथा सेंधा नोन एक मासा डाले, क्योंकि ये तीक्ष्ण हैं। यदि जीरा आदि डालना हो तो एक शाण तथा मिश्री, गुड़ तथा शहद आदि डालने हो तो वहां साधारण मात्रा जैसा योग्य हो कल्पना कर लेवे। याने उत्तम, मध्यम और हीन बल के अनुसार उनकी मात्रा नियत करे ॥ ७३ ॥

दोषभेदे मधुशर्करयोः प्रक्षेपमानमाह—

षोडशाष्टचतुर्भागं वातपित्तकफार्त्तिषु।
क्षौद्रं कषाये दातव्यं विपरीता तु शर्करा ॥ ७४ ॥

क्वाथ में शहद डालना हो तो वाताधिक्य में क्वाथ का सोलहवाँ भाग, पित्ताधिक्य में आठवाँ भाग तथा कफाधिक्य में चौथाई भाग प्रक्षेप दे। पर शक्कर का क्रम इससे विपरीत है याने वातरोग में चौथाई भाग, पित्तरोग में अष्टमांश एवं कफ के रोग में सोलहवाँ भाग डालना चाहिये ॥७४॥

क्षीरादिपाकमाह—

द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥ ७५ ॥

यदि दूध पकाना हो, तो द्रव्य से आठगुना दूध तथा दूध से चौगुना जल एकत्र कर मन्दाग्नि से पकावे। जब सब पानी जल जाय, केवल दूध ही बच रहे, तब उतार कर छान ले। यही क्षीर पाक-विधि है ॥

क्षीरमस्त्वारनालानां पाको नास्ति विनाऽम्भसा।
सम्यक्पाकं न गच्छन्ति तस्मात् तोयं चतुर्गुणम् ॥७६॥

दूध, मस्तु तथा काँजी आदि को दवा के साथ पकाने से, विना जल दिये उनका पाक ठीक तरहसे नहीं होता; इसलिये इनके साथ चौगुना जल मिलाकर पाक किया जाता है, जिससे ओषधि का वीर्य ठीक तरह से इनमें आ जाय ॥ ७६ ॥

द्वितीय खण्ड की भाषाटीका समाप्त।

तृतीयः खण्डः

स्नेहसाधने क्वाथ्यजलादेः परिमाणमाह—

क्वाथ्याच्चतुर्गुणं वारि पादस्थं स्याच्चतुर्गुणात् ।
स्नेहात् स्नेहसमं क्षीरं कल्कस्तु स्नेहपादिकः ।
चतुर्गुणन्त्वष्टगुणं द्रवद्वैगुण्यतो भवेत् ॥ १ ॥

क्वाथ द्रव्य से चौगुना पानी ले काढ़ा बनावे। जब चौथाई बच रहे तब उतार कर छान ले। फिर इस काढ़े से स्नेह पाक करे। यदि स्नेह में दूध भी मिलाकर पाक करना हो, तो दूध स्नेह के समभाग में डाले। कल्क से पाक करना हो तो स्नेह को चौथाई कल्क ले। यह स्नेह पाक करने का सामान्य नियम है। उपर्युक्त चतुर्गुण का अर्थ आठगुना होता है, क्योंकि द्रव पदार्थ का दूना लिया जाना पहले खण्ड में कहा जा चुका है ॥ १ ॥

अपि च—

अत्र द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम् ।
द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत् ॥ २ ॥

यदि स्नेह को सिर्फ दूध से ही पाक करना हो, अन्य कोई द्रव संयोग न हो तो स्नेह से दूध चौगुना लेकर पाक करे। लेकिन, अन्य द्रव का भी योगकर पाक करना हो तो दूध स्नेह के समभाग से लेवे ॥ २ ॥

अन्यच्च—

जलमष्टगुणं क्वाथ्यात् क्वाथश्च जलपादिकः ।
क्वाथाच्च पादिकः स्नेहः स्नेहात् कल्कस्तु पादिकः ॥३॥

क्वाथ्य पदार्थ से अठगुना जल लेकर क्वाथ करे और जल की चौथाई काढ़ा शेष रखे। काढे से चौथाई स्नेह–और स्नेह से

चौथाई कल्क लेकर स्नेहपाक करे याने स्नेह सिद्ध करने में प्रमाण इस प्रकार है, कि स्नेह से कल्क चौथाई होती है। क्वाथ जिसमें स्नेह पाक होता है, उससे चौगुना होता है। जल जो क्वाथ बनाया जाता है उस क्वाथ का चौगुना रहता है और क्वाथ्य द्रव्य जल का अष्टमांश यानी क्वाथ का अर्ध होता है। यह साधारण नियम है ॥ ३ ॥

पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥ ४ ॥

यदि स्नेहपाक पांच या पांच से अधिक द्रव पदार्थों से करना हो, तो प्रत्येक द्रव स्नेह के समान ही लेवे; पर यदि उससे कम संख्यक द्रव हों यानी चार या तीन आदि तो प्रत्येक द्रव स्नेह से चौगुना लेना चाहिये ॥ ४ ॥

अन्यच्च—

एकद्वित्रिद्रवद्रव्यैः कुर्य्यात् स्नेहाच्चतुर्गुणम् ।
क्षीरं स्नेहसमं देयं चतुर्भिश्च चतुर्गुणम् ॥ ५ ॥

यदि स्नेह को एक, दो अथवा तीन द्रवों से साधना हो, तो प्रत्येक द्रव स्नेह से चौगुना लेवे, पर दूध स्नेह के सम ही लेवे (श्लोक २ के अनुसार) और यदि दूध सहित द्रव चार हों तो उन चारों को मिलित स्नेह से चौगुना ले लेना चाहिये (प्रत्येक द्रव स्नेह सम) ॥ ५ ॥

कल्काच्चतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्वाथ्याच्चतुर्गुणं वारि क्वाथः स्नेहसमो भवेत् ॥ ६ ॥

कल्क से स्नेह चौगुना, स्नेह से जल चौगुना ले । यदि क्वाथ करना हो तो क्वाथ्य से चौगुना जल ले क्वाथ्य सम याने चौथाई बचने पर उतार छाने । मतलब यह कि क्वाथ्य द्रव्य उतना लेवे जितना कि काढ़े की जरूरत हो (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा काम में लानी चाहिये) ॥६॥

जलस्नेहौषधानाञ्च प्रमाणं यत्र नेरितम् ।
पादः स्यादौषधं स्नेहात् स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ॥ ७ ॥

स्नेह-पाक में यदि सिर्फ औषधादि की ही उक्ति हो पर प्रमाण न कहा हो, तो वहां ओषधि स्नेह (घी, तेल वसा, मज्जा) से चौथाई और जल स्नेह से चौगुना लेकर पाक कर ले ॥ ७ ॥

वृषादिकुसुमात् कल्कः केवलस्नेहसिद्धये ।
यत्रोक्तः स्नेहपादार्द्धः स्नेहकार्य्ये मनीषिभिः ॥ ८ ॥

परन्तु जिस स्नेह को अडूसे आदि के पुष्पों के कल्क से सिद्ध करने की विधि हो वहां कल्क स्नेह का अष्टमांश देवे ॥ ८ ॥

अन्यच्च—

स्नेहे सिद्धयति शुद्धाम्बु निःक्वाथस्वरसैः क्रमात् ।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ ६ ॥

यदि स्नेह को सिर्फ जल से साधना हो तो कल्क स्नेह की चौथाई डाले, यदि काढ़े से सिद्ध करना हो तो कल्क स्नेह का छठा भाग तथा स्वरस में पाक करना हो तो कल्क स्नेह का अष्टमांश डाले ॥ ९ ॥

स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित् ।
जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्य्याधानार्थमावपेत् ॥ १० ॥
न मुञ्चति रसं द्रव्यं क्षीरादिभिरुपस्कृतम् ।
सम्यक् पाको न जायेत तस्मात्तोयं चतुर्गुणम् ॥ ११ ॥

जहां कहीं यदि स्नेह-पाक किसी स्वरस से, दूध से अथवा माङ्गल्य याने दही से करना हो, तो वहां स्नेह में चतुर्गुण जल भी मिलावे; क्योंकि सिर्फ दूध आदि से पक कर द्रव्य अपना रस आदि स्नेह में नहीं छोड़ता क्योंकि इनकी मात्रा कम होने से अधिक देर तक पक नहीं सकता; इससे पाक भी ठीक तरह का नहीं होता। इसलिये, वीर्याधान होने के लिये स्नेह में चौगुना जल डाल कर पाक करे ॥

स्नेहपाकविधौ यत्र क्षीरमेकन्तु कथ्यते ।
तोयादीनामनिर्देशे क्षीरमेव चतुर्गुणम् ॥ १२ ॥

(एतदेव समाधानमत्युचितम्)

जहां सिर्फ दूध से ही स्नेह पाक करना हो, उसमें और कोई द्रव न हो, तो स्नेह से चौगुना दूध डालकर स्नेह सिद्ध कर लेना चाहिये । यही समाधान ही ठीक है ॥ १२ ॥

अकल्कोऽपि भवेत् स्नेहो यः साध्यः केवले द्रवे ॥१३॥

यदि बिना कोई कल्क के केवल द्रव से ही तैल पाक करना हो, तो भी द्रव द्रव्य चौगुना लेवे ॥ १३ ॥

स्नेहपाकविधौ यत्र प्रमाणं नेरितं क्वचित् ।
स्नेहस्य कुडवं तत्र पचेत् कल्कपलेन तु ॥ १४ ॥

जहां सिर्फ कल्क से स्नेह पकाने को ही कह दिया हो, पर उनका प्रमाण न दिया हो तो एक कुडव स्नेह लेकर उसमें एक पल कल्क डाल यथाविधि पाक कर लेवे ॥ १४ ॥

मानानुक्तौ घृते तैले प्रस्थमाहुश्चिकित्सकः ॥ १५ ॥

चिकित्सक लोग प्रायः स्नेह मान न कहे रहने पर एक प्रस्थ ग्रहण करते हैं ॥ १५ ॥

द्विगुणं त्रिगुणं वापि बहुमात्राञ्च पादिकम् ।
योगं यदि पचेन्मूढो हीनवीर्य्यं भवेत् तदा ॥ १६ ॥

यदि मूर्ख वैद्य अज्ञानवश स्नेह दुगुना, तिगुना अथवा और भी अधिक मात्रा में ग्रहण कर लालचवश एक भाग स्नेह की अपेक्षा पादिक याने चतुर्थांश दवाओं से पाक करता है, तो स्नेह में वीर्य नहीं आता, अतः स्नेह वीर्यहीन हो जाता है । इस कारण से स्नेह का पाक कथित अनुपात से ही होना चाहिये ॥ १६ ॥

तुलाद्रव्ये जलद्रोणो द्रोणे द्रव्यतुला मता।
अनुक्ते द्रवकार्य्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम् ॥ १७ ॥

यदि पाक कार्य में द्रव्य एक तुला कहा हो, तो जल एक द्रोण ग्रहण करे, तथा उसी प्रकार से यदि जल तो एक द्रोण कह दिया हो पर द्रव्य की मात्रा न कही हुई हो, तो एक तुला ग्रहण करे। यदि द्रव का उल्लेख हो पर निर्देश न हो तो सर्वत्र जल ही लेना चाहिये ॥

अन्येऽप्याहुः—

अङ्गेऽप्यनुक्ते विहितन्तु मूलं भागेऽप्यनुक्ते समता विधेया।
द्रव्येऽप्यनुक्ते जलमेव देयं कालेऽप्यनुक्ते दिवसस्य पूर्वम् ॥ १८ ॥

यदि ओषधि की कल्पना में कोई खास अङ्ग (पत्र–पुष्पादि) का निर्देश न हो, तो वहाँ जड़ को ही लेवे। यदि ओषधियों के भाग न कहे हों तो सबको सम भाग लेवे। यदि द्रव का निर्देश न हो तो जल लेवे और यदि दवा आदि सेवन का काल निर्देश नहीं किया गया हो तो सुबह को समझे ॥ १८ ॥

प्रसारण्यादिनिर्दिष्टं शतमेकं पृथक् पृथक्।
जलद्रोणेन चैकैकं साधयेत् श्लक्ष्णकुट्टितम् ॥ १९ ॥
काथ्यद्रव्यस्य बाहुल्यादुदकं स्वल्पमेव तु।
सम्यक् पाकं न जायेत हीनवीर्य्यन्तु केवलम् ॥ २० ॥

प्रसारणी तैल आदि में जिसमें अत्यधिक मात्रा में प्रसारणी आदि का उपयोग है, उनका एक साथ क्वाथ बनाना बड़े पात्र के अभाव में कठिन हो जाता है; इस कारण से उन्हें एक शत पल के भागों में बांटकर पृथक् पृथक् पात्र में एक एक द्रोण जल में क्वाथ कर, उस क्वाथ से तैल पाक करे। एक साथ क्वाथ करने से द्रव्य अधिक और जल कम हो जाने से द्रव्यों का पाक ठीक ठीक नहीं

होता जिससे उनका वीर्य क्वाथ में नहीं आता; इसलिये इस क्वाथ में पकाया तैल भी हीनवीर्य हो जाता है। इससे अलग २ क्वाथ बनावे ॥

कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात् तस्मात् समाहरेत्।
समस्तवर्गमर्द्धं वा यथालाभमथापि वा।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः कालसात्म्यविभागवित् ॥ २१ ॥

जहां स्नेह साधन में कल्क तथा क्वाथ दोनों का ही निर्देश न हो वहां उस रोग को नाश करने वाले गण की दवाएँ लाकर पाक करे। गण में से समस्त, आधा अथवा जितना प्राप्त हो सके लाकर काल, सात्म्य आदि का भली भाँति विचार करके, जो जो उस समय उस रोगी के लिये उपयुक्त हों, उन्हीं के कल्क तथा क्वाथ से ही तैल, घृत आदि स्नेह का पाक कर प्रयोग करे ॥ २१ ॥

यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेहसंविधौ।
तत्रैव कल्कनिर्य्यूहाविष्येते स्नेहवेदिना ॥ २२ ॥

जहां पर कहा हुआ गण अधिकृत गण है (जैसे वीरतर्वादि, विदार्यादि-इत्यादि) वहां स्नेहपाक के जानने वाले विद्वान् कल्क और क्वाथ दोनों से स्नेह पाक करने का विधान करते हैं, पर यदि अधिकृत गण नहीं है (जैसे, कफनाशक दवाओं से पाक करना-ऐसा निर्देश हो) वहां सिर्फ कल्क ही से स्नेहपाक करे (जल डालकर) ॥ २२ ॥

गणोक्तमपि यद् द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम्।
तदुद्धरेद् यौगिकन्तु प्रक्षिपेद् यदकीर्त्तितम् ॥ २३ ॥

दवा गणोक्त हो पर जिसके लिये वह प्रयुक्त होगा यदि उनमे से कुछ उसकी दोष-प्रकृति आदि के लिये अनुपयुक्त हों, तो गण से उस दवा को निकाल दे और यदि बाहर की दवा याने गण में

न भी कही गई हो, पर वह उस व्याधि में यौगिक होती हो तो संयोग आदि का विचार करके उसे उसमें मिला लेवे ॥ २३ ॥

शार्ङ्गधरस्त्वाह—

कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा ।
चतुर्गुणद्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता ॥ २४ ॥
(पलोन्मितेति पानादौ मात्रा देया निष्पन्नस्य घृतादेः ।)

शार्ङ्गधर के मत से कल्क का चौगुना घी अथवा तैल (स्नेह-सामान्य) उससे चौगुना जल में पकाया जाय । इस तरह पकाये घृत तैलादिकों की मात्रा एक पल की है ॥ २४ ॥

निक्षिप्य क्वाथयेत्तोयं क्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् ।
पादशेषं गृहीत्वा तु स्नेहं तेनैव साधयेत् ॥ २५ ॥

क्वाथ्य द्रव्य से चौगुना जल लेकर काढ़ा बनावे और चौथाई शेष रख उसी से ही तैल आदि का पाक करे (द्रवद्वैगुण्य ग्रहण करे ।)॥

क्षीरे द्विरात्रं स्वरसे त्रिरात्रं तक्रारनालादिषु पञ्चरात्रम् ।
स्नेहं पचेद्वैद्यवरः प्रयत्नादित्याहुरेके भिषजः प्रवीणाः ॥ २६ ॥

एक ही दिन में पाककर लेने से स्नेह-पाक वीर्यवान नहीं होता; इसलिये यदि स्नेहपाक दूध में हो तो दो रात में, स्वरस में हो तो तीन रात में, छाछ, काँजी आदि खट्टे पदार्थों में हो तो पाँच रात में, निष्पन्न करे । ऐसा कोई २ प्रवीण वैद्य कहते हैं ॥ २६ ॥

द्वादशाहन्तु मूलानां वल्लीनां क्रममेव च ।
एकाहं व्रीहिमांसानां पाकं कुर्याद्विचक्षणः ॥ २७ ॥

जड़ तथा लता युक्त तैल-पाक बारह दिन में तथा व्रीही और मांसयुक्त पाक हो तो एक दिन में करे ॥ २७ ॥

चतुर्गुणं मृदुद्रव्ये कठिनेऽष्टगुणं जलम् ।

तथा च मध्यमे द्रव्ये दद्यादष्टगुणं पयः ॥
अत्यन्तकठिने द्रव्ये नीरं षोडशिकं मतम् ॥ २८ ॥

क्वाथ के लिये जल का प्रमाण कहते हैं—यदि मृदु द्रव्य का क्वाथ करना हो तो जल चौगुना देवे, कठिन द्रव्य हो तो अठगुना देवे, उसी तरह मध्यम याने न अति मृदु और न अति कठिन हो इसमें भी आठगुना पानी दे कर काढ़ा बनावे। यदि द्रव्य अत्यन्त कठिन हो तो जल सोलह गुना देकर काढ़ा बनावे ॥ २८ ॥

कर्षादितः पलं यावत् क्षिपेत् षोडशिकं जलम् ।
तदूर्ध्वं कुडवं यावद् भवेदष्टगुणं पयः ।
प्रस्थादितः क्षिपेन्नीरं खारीं यावच्चतुर्गुणम् ॥ २९ ॥

यदि द्रव्य एक कर्ष से एक पल तक की मात्रा में हो तो उसमें सोलह गुना जल देकर काढ़ा बनावे, उससे ऊपर एक कुड़व तक अठगुना जल देवे तथा प्रस्थ से लेकर खारीतक के द्रव्य के चौगुना पानी देकर क्वाथ करे ॥ २९ ॥

अम्बुक्वाथरसैर्यत्र पृथक् स्नेहस्य साधनम् ।
कल्कस्यांशं तत्र दद्याच्चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ ३० ॥

जहां केवल जल, केवल क्वाथ अथवा केवल रस-स्वरस या मांसरस—से ही स्नेह सिद्ध करना है, वहां कल्क की मात्रा क्रमशः स्नेह से चौथाई, छठा भाग तथा अष्टमांश रखे ॥ ३० ॥

दुग्धे दध्नि रसे तक्रे कल्को देयोऽष्टमांशिकः ।
कल्कस्य सम्यक् पाकार्थं तोयमत्र चतुर्गुणम् ॥ ३१ ॥

दूध, दही, रस और मठा, यदि इसमें स्नेह सिद्ध करना हो, तो कल्क स्नेह का अष्टमांश डाले तथा जल भी चौगुना डाल कर पाक करे; क्योंकि इनके घन होने की वजह से दवा भली भाँति पक कर तैलादि में नहीं जा सकती ॥ ३१ ॥

द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादीनि भवन्ति हि ।
तत्र स्नेहसमान्याहुर्यथापूर्वं चतुर्गुणम् ॥ ३२ ॥

जहां स्नेह पाक करने में द्रव पदार्थ पाँच या पाँच से ज्यादा हों, वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के समान ही लेना, पर उससे कम हो याने चार, तीन, दो या एक द्रव से ही पाक करना हो, तो प्रत्येक को स्नेह से चौगुना लेना । (दूसरा मत यह है, कि यदि एक, दो या तीन अथवा चार हों तो उनको इस प्रकार की मात्रा में लेना कि सब मिल कर स्नेह से चौगुने हो जायँ ॥ ३२ ॥

द्रव्येण केवलेनैव स्नेहपाको भवेद् यदि ।
तत्राम्बुपिष्टः कल्कः स्याज्जलञ्चात्र चतुर्गुणम् ॥ ३३ ॥

जहां केवल द्रव्य से ही स्नेह पाक करने की विधि हो वहां पर कल्क को जल से ही पीस कर चौगुना जल डाल कर स्नेह पाक करे ॥ ३३ ॥

क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्रेरितः क्वचित् ।
क्वाथ्यद्रव्यस्य कल्कोऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते ॥ ३४ ॥

यदि सिर्फ काढे से ही स्नेह पाक करने को लिखा हो, तो वहां उन क्वाथ्य द्रव्यों का कल्क भी चौथाई देकर पाक करे ॥ ३४ ॥

कल्कहीनस्तु यः स्नेहः स साध्यः केवले द्रवे ॥३५॥

जहां बिना कल्क के ही स्नेह साधने का निर्देश हो, वहां सिर्फ द्रवद्रव्य से ही स्नेह का साधन करे ॥ ३५ ॥

पुष्पकल्कस्तु यः स्नेहस्तत्र तोयं चतुर्गुणम् ।
स्नेहात् स्नेहाष्टमांशस्तु पुष्पकल्कः प्रयुज्यते ॥ ३६ ॥

जो स्नेह पुष्पों के कल्क से सिद्ध होता हो, उसमें स्नेह का अष्टमांश पुष्प कल्क देवे तथा चौगुना पानी देकर पाक करे ॥ ३६ ॥

स्नेहनिष्पत्तिलक्षणमाह—

स्नेहकल्को यदाऽङ्गुल्या वर्त्तितो वर्त्तिवद्भवेत् ।
वह्नौ क्षिप्ते च नो शब्दस्तदा सिद्धिं विनिर्दिशेत् ॥३७॥

स्नेह पाक हो जाने की पहिचान चक्रदत्तने इस प्रकार कहा है, कि जब स्नेहकल्क हाथ में लेकर बटने से बत्ती सी बन जाय तथा कल्क या तेल में से एक दो बिन्दु अग्नि में डालने से शब्द न करे-चड़चड़ाये नहीं, तब जाने की स्नेह पाक सिद्ध हो गया ॥ ३७ ॥

शब्दस्योपरमे प्राप्ते फेनस्योपरमे तथा ।
गन्धवर्णरसादीनां सम्पत्तौ सिद्धिमादिशेत् ॥ ३८ ॥

पाक करते समय होने वाला चड़चड़ शब्द जब बन्द हो जाय, फेन आना बन्द हो जाय तथा दवाओं का गन्ध, वर्ण रस-आदि घृत में आजायँ, तब पाक हो गया जाने ॥ ३८ ॥

घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात्कुशलो भिषक् ।
फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत् ॥ ३९ ॥

कुशलकर्मा वैद्य यही लक्षण घृतपाक का जाने । तेल में सिर्फ फेन ही अधिक उठते हैं, शेष सब लक्षण घृत जैसे ही जानना ॥३९॥

एवमेव क्षारतोयं साधयेत्तु क्षतादिषु ।
फेनोदयस्य निष्पत्तिर्नष्टदुग्धसमाकृतिः ।
स एव तस्य पाकस्य कालो नेतरलक्षणम् ॥ ४० ॥

ठीक इसी समय क्षार से सिद्ध होने वाले घृतादि में फेनका निकल कर बिगड़े दूध के जैसा होना यानी जिस तरह बिगड़े दूध को गरम करने से ऊपर छिड़छिड़े फेन फेन से नजर आते हैं, यह फेन भी (इन घृतादिकों का) ऐसा ही दीखता है । यह इसके पाक का समय है । खास और कोई चिह्न नहीं है, यानी जब ऐसे लक्षण देखे तो पाक को सिद्ध हो गया समझे ॥ ४० ॥

स्नेहपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा ।
ईषत्सरसकल्कस्तु स्नेहपाको भवेन्मृदुः ॥ ४१ ॥
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्को नीरसकोमलः ।
ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत् खरः ॥ ४२ ॥
तदूर्ध्वं खरपाकः स्याद् दाहकृन्निष्प्रयोजनः ।
आमपाकश्च निर्वीर्य्यो वह्निमान्द्यकरो गुरुः ॥ ४३ ॥

स्नेह का पाक तीन तरह का होता है—मृदु, मध्य और खर । जब कल्क में किञ्चित् रस रहते रहते पाक निष्पन्न किया जाता है, तब पाक मृदु; जब कल्क नीरस पर कोमल रहते ही पाक शेष किया जाता है, तब पाक मध्यम और कल्क कुछ कठिन होने पर जब पाक उतारा जाता है, तो खर पाक कहाता है । इससे अधिक खर पाक याने इससे भी देर पर पाक उतारने से स्नेह दाह करने वाला तथा वृथा यानी निष्प्रयोजन हो जाता है; उसके गुण चले जाते हैं । आम पाक यानी द्रव पदार्थ के ठीक तरह से न पककर अधिक मात्रा में रहते ही यदि पाक समाप्त कर दिया जाय, तो कच्चा पाक होता है जो वीर्यहीन और भारी तथा मन्दाग्नि करने वाला होता है ॥ ४१–४३ ॥

नस्यार्थं स्यान्मृदुः पाको मध्यमः सर्वकर्म्मसु ।
अभ्यङ्गार्थं खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेवं यथोचितम् ॥४४॥

नस्य लेने के लिये मृदुपाक, सब कामों के लिये मध्य पाक तथा शरीर पर मलने आदि बाह्योपयोग के लिये खर पाक कर यथोचित काम में लगावे ॥ ४४ ॥

अन्यच्च—

मृदुर्नस्ये खरोऽभ्यङ्गे बस्तौ पाने च मध्यमः ॥ ४५ ॥

दूसरे कहते हैं कि नस्य के लिये मृदु, अभ्यङ्ग के लिये खर

तथा बस्तिकर्म और पान के लिये मध्यम पाक करना चाहिये ॥ ४५ ॥

तुल्ये कल्के च निर्य्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः।
शम्पाक इव निर्य्यासो मध्यो दर्व्वीं विमुञ्चति ॥
शीर्य्यमाणे तु निर्य्यासे वर्त्तमाने खरः स्मृतः ॥ ४६ ॥

जब तैल पकते-पकते कल्क के जितना ही द्रव्य शेष रह जाय याने कल्क सरस रहे तब जानना कि मृदु पाक हो गया, जब कल्क अमलतास का गूदा के जैसा होकर कलछे में लिपट जाय पर उसमें चिपक कर छूट जाय तब मध्यम पाक समझे। काढ़ा आदि प्रायः सूख जाय और कल्क कठिन होता जाय, तो खर पाक समझना चाहिये ॥

सर्वेषामिह द्रव्याणां मध्यपाकः प्रशस्यते।
वरं पाको मृदुः कार्य्यः तथापि न खरो मतः ॥
किञ्चिद्वीर्य्यं मृदुर्धत्ते तज्जहाति खरः पुनः ॥ ४७ ॥

सब प्रकार के द्रव्य से स्नेह का मध्य पाक ही उत्तम होता है। पाक का मृदु ही रह जाना अच्छा, पर खर होना ठीक नहीं; क्योंकि मृदुपाक में यद्यपि पूर्ण वीर्य नहीं आता तथापि कुछ तो अवश्य हो रहता है, पर खर पाक में अधिक गरम होने के कारण तैल में आये हुए सेन्द्रिय पदार्थ जल जाते हैं जिससे सब वीर्य तैल में से जाता रहता है ॥ ४७ ॥

अन्यत्पाकलक्षणमाह—

वर्त्तिवत् स्नेहकल्कः स्याद् यदाऽङ्गुल्या विवर्त्तितः।
शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः स्नेहः सिद्धो भवेत्तदा ॥ ४८ ॥

अंगुली से मसलने पर जब स्नेह-कल्क बत्ती सी बन जाय तथा आग पर डालने से चड़चड़ शब्द न करे तो स्नेह सिद्ध हुआ जाने ॥

यदा फेनोद्गमस्तैले फेनहीनस्तु सर्पिषि।
वर्णगन्धरसोत्पत्तौ स्नेहः सिद्धस्तदा भवेत् ॥ ४९ ॥

जब तैल में फेन उठने लगे, घृत फेन रहित हो जाय तथा उनमें दवाओं का गंध, रंग तथा रस यथावत् आ जायँ तो स्नेह पाक को सिद्ध हुआ जाने ॥ ४९ ॥

अन्यच्च—

घृत-तैल-गुडादींश्च नैकाहादवतारयेत् ।
व्युषितास्तु प्रकुर्वन्ति विशेषेण गुणान् यतः ॥ ५० ॥

घी, तैल तथा गुड़ आदि के पाक को एक ही दिन में निष्पन्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि यदि अधिक दिनों तक बासी रख कर धीरे-धीरे पकाया जाय, तो ये विशेष गुण दिखाते हैं। इससे पहले कहे अनुसार तीन, चार अथवा पांचदिन में सिद्ध करना चाहिये ॥५०॥

केवलं व्रीहिजन्त्वङ्ग-काथो व्युष्टस्तु दोषलः ॥ ५१ ॥

सिर्फ अनाजों का क्वाथ तथा मांस आदि जन्तुओं के अंगों के रस ही बासी रखने से दोषयुक्त हो जाते हैं; इस लिये इनसे पकने वाले स्नेह का एकही दिन में पाक कर ले ॥ ५१ ॥

गुडपाकलक्षणमाह—

यदा दर्वीप्रलेपः स्याद् यदा वा तन्तुली भवेत् ।
तोयपूर्णे च पात्रे तु क्षिप्तो न प्लवते गुडः ॥ ५२ ॥
क्षिप्तस्तु निश्चलस्तिष्ठेत् पतितस्तु न शीर्य्यति ।
एष पाको गुडादीनां सर्वेषां परिकीर्त्तितः ॥ ५३ ॥

जब गुड़ कलछे में लिपटने अथवा जब उससे तार छूटने लगे, जल भरे पात्र में डालने से डूब जाय तथा जाकर स्थिर रहे, फैले नहीं, तब सब प्रकार गुड़ आदि के पाक को सिद्ध हुआ जाने ५२-५३

सुखमर्द्दः सुखस्पर्शो गन्धवर्णरसान्वितः ।
पीडितो भजते मुद्रां गुडः पाकमुपागतः ॥ ५४ ॥

गुड को लेकर मर्द्दन करने से तथा छूने से सुख हो यानी गुड़ चिकना तथा कोमल हो, ठीक ठीक गंध, वर्ण और रसयुक्त हो जाय तथा अंगुली में लेकर दबाने से उसमें पोरुए की सूक्ष्म रेखाएँ उठ जायं, तो गुड़ के पाक को सिद्ध हुआ जाने ॥ ५३ ॥

गुडवद् गुग्गुलोः पाकः रसगन्धविशेषतः ॥ ५५ ॥

गुड़ के पाक के समान गूगल को भी पाकसिद्धि के लक्षण जानना, भेद सिर्फ गूगल के गंध, रंग व रस में ही है ॥ ५५ ॥

श्रेष्ठमध्यमहीनेषु द्वादशाष्टचतुष्टयैः ।
माषकैर्गुग्गुलोर्मात्रां व्याधिं वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥५६॥

गूगल की मात्रा श्रेष्ठ, मध्यम और हीन बल वाले पुरुषों के लिये क्रमशः बारह, आठ तथा चार मासे का जानना । इसे भी व्याधि आदि के विचार से कल्पित करे ॥ ५६ ॥

लौहशोधनादिपरिभाषामाह—

(यदाहुस्त्रिविक्रमपादाः लौहप्रदीपे)—

शुद्ध्यर्थं त्रिफला लौहात् कर्त्तव्या द्विगुणा सदा ।
चतुर्गुणं फलात्तोयमर्द्धभागावशेषितम् ॥ ५७ ॥
एष एव विधिर्नित्यं क्षालनेऽपि प्रशस्यते ॥ ५८ ॥

त्रिविक्रमपाद लोहप्रदीप में कहते हैं—लोहे की शुद्धि के निमित्त लोहेसे दूगुना त्रिफला ले चौगुने जल देकर औटावे और आधा शेष रहने पर काढ़े को उतार छान लेवे । यही काढ़ा लोहे की शुद्धि के काम में लावें । लोहे को धोने के लिये भी यही विधि उत्तम है ॥ ५७–५८ ॥

वधार्थं त्रिफला ग्राह्या लोहान्नित्यं चतुर्गुणा ।
तोयमष्टगुणन्तत्र चतुर्भागावशेषितम् ॥ ५९ ॥

मारण कर्म के लिये त्रिफला लोहें से सदा चौगुना लेवे और

आठ गुना जल देकर औटावे । जब चौथाई जल रहै तो उतारे । यही क्वाथ मारण के काम में लावें ॥ ५९ ॥

भानुपाकार्थमिच्छन्ति त्रिफलामयसा समाम् ।
सलिलं द्विगुणन्तत्र चतुर्भागावशेषितम् ॥ ६० ॥

भानुपाक के लिये त्रिफला लोहे का समभाग लेवे और दुगुना पानी दे औटावे फिर चौथाई जल शेष रहने पर उतारे । इस क्वाथ को भानुपाक में बरते ॥ ६० ॥

पाच्यद्रव्यात् तु पाकार्थं त्रिफला त्रिगुणेरिता ।
स्यात् षोडशगुणं तोयमष्टभागावशेषितम् ॥ ६१ ॥

स्थाली पाक के निमित्त त्रिफला लोहे से तिगुना ले, सोलह गुना जल डाल कर औटा, आठवां भाग शेष बचने पर उतारकर स्थाली पाक में प्रयोग करे ॥ ६१ ॥

अन्यानि यानि वस्तूनि योक्तव्यानि पुटादिषु ।
तानि लौहसमान्याहुर्जलं प्रागेव कीर्त्तितम् ॥ ६२ ॥

पुटपाक तथा अन्यान्य कर्मों के लिये जो और दूसरी वस्तुएँ ली जाँय, वे लोहे के समान ही हों । जल देने की मात्रा पहले कह दी गयी है ॥ ६२ ॥

लभ्यते स्वरसो येषां तेषां क्वाथोऽत्र नेष्यते ।
त्रिफलाव्यतिरेकेण मतमेतत् पतञ्जलेः ॥ ६३ ॥

पतञ्जलि के मत से जिन द्रव्यों का स्वरस प्राप्त हो सकता है, उनका स्वरस ही लोहे के काम में लाना चाहिये, क्वाथ नहीं; पर त्रिफले का क्वाथ ही उपयुक्त है ॥ ६३ ॥

एष एव विधिर्नित्यं क्षालनेऽपि प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

प्रतिदिन के क्षालन में भी यही विधि ठीक है अर्थात् त्रिफले का काढ़ा तथा अन्य प्राप्तव्य स्वरस से ही लोहा धोया जाय ॥ ६४ ॥

लौहवत् त्रिफला व्योम्नि त्रिफलावत् पयो मतम् ।
प्राक् कीर्त्तितं जलञ्चात्र मृदुमध्यादिभेदतः ॥ ६५ ॥

भानुपाक में लोहे के वजन के बराबर ही त्रिफला लेवे तथा उसके वजन जितना ही जल डाले । जल की मात्रा मृदु, मध्य और कठिन द्रव्य भेद से पहले कह आये हैं ॥ ६५ ॥

मृदुमध्यकठोरत्वात् क्वाथ्यद्रव्यं त्रिधा मतम् ।
क्वाथ्यद्रव्यानुसारेण देयं स्थाप्यं जलं त्रिधा ॥ ६६ ॥

मृदु, मध्य और कठिन भेदसे क्वाथ्य द्रव्य तीन तरह के होते हैं, इसलिये जल उनके अनुसार तीन भिन्न २ मात्रा में दिया और शेष रखा जाता है ॥ ६६ ॥

द्विगुणा त्रिफला लौहात् फलात् षोडशिकं जलम् ।
अष्टभागावशिष्टन्तु मारणे जलमिष्यते ॥ ६७ ॥

पतञ्जलि का लोहकी सामान्य परिभाषा—लोहे से दुगुना त्रिफला ले, सोलह गुने जलमें पकावे तथा अष्टमांश बचने पर उतार कर इस काढ़े को लोहे के मारण के काम में लावे ॥ ६७ ॥

समा च त्रिफला ग्राह्या जलञ्चाष्टगुणं तथा ।
वधार्थे स्थापयेत् तोयं तस्यार्द्धं वस्त्रशोधितम् ॥ ६८ ॥

दूसरे कहते हैं कि-त्रिफला लोहे की वजन से सम परिमाण लेकर अठगुने जल में पका आधा रहने पर उतार छान कर, उस काढ़े को लोह-मारण में बरते ॥ ६८ ॥

वधार्थेन समं ग्राह्यं पाकार्थञ्च समं फलम् ।
अष्टभागावशिष्टञ्च पाकार्थं जलमिष्यते ॥
एवं जलं फलं प्रोक्तं यथासंख्येन योजयेत् ॥ ६९ ॥

लोहे के मारण तथा पाककर्मों के लिये लोहे के बराबर ह त्रिफला लेवे । पाक के लिये जो काढ़ा बनावे वह आठवाँ भाग शेष

रख कर उतारे (जल सोलह गुना दे रखे)। यही लोहकर्म में त्रिफला और जल का परिमाण है। उसे यथाक्रम योजना करे ॥६९॥

लौहपाकलक्षणमाह, तदुक्तं पतञ्जलिना—

तावल्लौहं पचेद्वैद्यो यावद्वस्त्रेण गालितम्।
समुद्रं जायते व्यक्तं न निःसरति सन्धिभिः ॥ ७० ॥

जब तक छानने से लोहा कपड़े में न लगे रहे और नीचे गिरे तथा उस पर अंगूठे आदि के निशान न आजायँ, तबतक उसका पाक करे, यानी जबतक ये बातें आ न जायँ तब तक लोहे को पकाता जाय। मतलब यह कि–ठीक तरह से पका लोहा कपड़े में से छनता नहीं तथा अंगुलियों से दबाने पर निशान बैठ जाता है ॥ ७० ॥

अन्यच्च—

अङ्गुलिभ्यां निघृष्टन्तु यदा चूर्णत्वमागतम्।
तदा सिद्धिं विजानीयाल्लौहं लौहविदांवरः ॥ ७१ ॥

अन्यमत का कहना है, कि जब अंगुलियों से मसलने पर लोह चूर्ण हो जाय तो लोह पाकज्ञ वैद्य लोहे को सिद्ध जाने ॥ ७१ ॥

अन्यच्च—

अञ्जनाभं घनं स्निग्धं श्लक्ष्णभतमलेपगम्।
अक्लिन्नमम्भसि क्षिप्तं सम्यक् पक्वस्य लक्षणम् ॥ ७२ ॥

काजल के समान काली कान्ति, गाढ़ा होकर रहना, चिकना होना, महीन चूर्ण होना, अंगुली आदि से छूने से न चिपकना या ईषत् चिपकना (सूखा होना) तथा जल पर चुटकी से डालने से गीला न होकर तैरते रहना, अच्छी तरह से पक्व लोहे के लक्षण हैं ॥७२॥*

---

* नोटः—उत्तम लोहभस्म को चुटकी से पानी में डाल कर ऊपर गेहूं या जौ धीरे से रखने से तैराता है। यह भस्म अत्युत्तम होता है। पीछे कहे हुए सब लक्षणों के नजर न आने से लोहे का हीनपाक जाने यानी पूरी तरह से पाक का न होना समझे।

मन्दमाहुरथो लौहमलब्धाखिललक्षणम् ।
अतिपाकेन तज्ज्ञेयं खरमुज्झितलक्षणम् ॥ ७३ ॥

यदि अतिपाक हो जाय तो लोह खर (अस्निग्ध) तथा अपने लक्षणों से हीन होता है यानी अपना ठीक २ लक्षण नहीं रखता तथा कुछ रूखा सा दीखता है ॥ ७३ ॥

पाकस्तु त्रिविधः प्रोक्तो मृदुमध्यमतीक्ष्णकः ।
त्रैविध्यात् सर्वधातूनां पित्तानिलकफात्मनाम् ॥ ७४ ॥

लोहे का पाक तीन तरह का होता है, मृदु, मध्यम तथा तीक्ष्ण; क्योंकि धातु भी तीन तरह के होते हैं। इन तीन तरह के पाक का उपयोग भी पित्त, वात तथा कफ विकारों में क्रम से जाने ॥ ७४ ॥

दर्वीमाश्लिष्यते यत्तत् स्वैरं स्खलति वा न वा ।
मृदुपाकं विजानीयात् पित्ते तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥ ७५ ॥

जब लोहा कलछे में चिपक जाया करे, कभी छूट जाय कभी नहीं, तो उसका मृदु पाक हो गया जाने। इसके दोषादिका विचार कर के पित्त विकार में प्रयोग करे ॥ ७५ ॥

सिक्तापुञ्जोपमं यत्तु मूषिकेन समन्वितम् ।
तदयः खरपाकं स्यात् श्लेष्मस्वेव प्रकीर्त्तितम् ॥७६॥

जब लोहा बर्त्तन पर चिपक कर रेतीली जमीन सा दीख पड़े तो लोहे का खर पाक हो गया जाने। इसे कफ रोग में ही प्रयोग करे ॥

एकैकगुणयोगित्वान्न तदिच्छन्ति तद्विदः ।
सर्वप्रकृतिसेव्यत्वान्मध्यमं बहुपूजितम् ।
गुडादि प्रविशेद् यत्र तत्र पाकोऽस्य मुद्रया ॥ ७७ ॥

ऊपर कथित पाकों में एक एक गुण होने के कारण से लोहविद् लोग उन्हें उतना अच्छा नहीं समझते, क्योंकि वे सर्वत्र प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। पर मध्यम पाक का लोहा सब प्रकृति के लोगों के

लिये सर्वत्र प्रयुक्त हो सकता है; इसलिये इस का मान बहुत है। इसका लक्षण मृदु और तीक्ष्ण में बीच का जानना; पर जब गुड आदि के साथ संयोग होता है, तो उस पर मुद्रा पड़ने से पाक को सिद्ध जाने ॥ ७७ ॥

भावनाविधिः—

द्रवेण यावता द्रव्यमेकीभूयार्द्रतां व्रजेत्।
तावत् प्रमाणं कर्त्तव्यं भिषग्भिर्भावनाविधौ ॥ ७८ ॥

जितने द्रव से द्रव्य का चूर्ण मिल कर एक होकर गीला हो जाय, उतने ही द्रव से वैद्य भावना दे; अधिक से नहीं। द्रव्य में द्रव डाल कर घोट कर मिला देवे और फिर गीला हो जाने पर सुखा लेवे। यही भावना-विधि है ॥ ७८ ॥

दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ च वासयेत्।
श्लक्ष्णं चूर्णीकृतं द्रव्यं सप्ताहं भावनाविधिः ॥ ७९ ॥

द्रव्य को भावना द्रव से एक कर दिन को धूप में सुखा ले और रातभर योंही रहने दे। फिर दूसरे दिन उसे महीन चूर्ण कर भावना देवे। इस प्रकार सात दिन तक लोह को भावित करे ॥ ७९ ॥

ग्रन्थान्तरे च—

भाव्यद्रव्यसमं क्वाथ्यं क्वाथ्यादष्टगुणं जलम्।
अष्टांशशेषितः क्वाथो भाव्यानां तेन भावना ॥ ८० ॥

जिन द्रव्यों से स्वरस प्राप्त न हो उनकी भावनाविधि कहते हैं—भाव्य द्रव्य के समान क्वाथ्य द्रव्य ले, अठगुने जल में औटा अष्टमांश शेष रहने पर उतार छान कर, उससे भावना देवे ॥ ८० ॥

क्षारोदकमाह—

पानीयो यस्तु गुल्मादौ तं वारानेकविंशतिम्।
स्रावयेत् षड्गुणे तोये केचिदाहुश्चतुर्गुणे ॥ ८१ ॥

गुल्मादि पेट के रोगों में क्षारजल पीने को दिया जाता है। उसकी बनाने की विधि यह है कि क्षार को छः गुने जल में घोल-कर बारीक कपड़े को तीन चार तह कर के उससे जलको इक्कीस बार छान ले तो क्षारोदक हो जाता है। कोई २ चौगुना पानी को लेने का मत देते हैं ॥ ८१ ॥

द्विरुक्तद्रव्यग्रहणम्—

घृततैलादियोगे च यद्द्रव्यं पुनरुच्यते ।
ज्ञातव्यं तदिहाचार्य्यैर्भागतो द्विगुणेन हि ॥ ८२ ॥

घी तैल आदि में युक्त करने के लिये जो द्रव्य फिर से कहा गया हो यानी दो बार कहा गया हो तो उसे भूल न समझ उस द्रव्य का दुगुना ग्रहण करे। आदि शब्द से चूर्ण, वटी, लेह आदि सब में समझना ॥ ८२ ॥

चूर्णस्य पाकनिषेधमाह—

प्रायो न पाकश्चूर्णानां भूरिचूर्णस्य तेन हि ।
आसन्नपाके प्रक्षेपः स्वल्पस्य पाकमागते ॥ ८३ ॥

चूर्ण का पाक प्रायः नहीं होता, इसलिये यदि अधिक चूर्ण पाक में मिलाना हो तो पाक के करीब २ हो जाने पर, चूर्ण को डाल कर हत्थे से चलाकर मिलादें, चूर्ण डालते वक्त द्रव पाक में इतना होना चाहिये कि सब चूर्ण उस में समा सके। यदि थोड़ा ही चूर्ण डालना हो तो पाक हो जाने पर उतार कर, जब पाक गुनगुना रहे प्रक्षेप चूर्ण मिला देना चाहिये ॥ ८३ ॥

चूर्णे चूर्णसमो ज्ञेयो मोदके द्विगुणो गुडः ॥ ८४ ॥

गुड़ यदि चूर्ण में मिलाना हो तो चूर्ण के सम भाग तथा मोदक में मिलाना हो तो दुगुना लेकर मिलावे ॥ ८४ ॥

संख्या पलानां शतशः पलं प्रश्रूयते यतः ।

तदा चाकृतिमानेन तेषान्तु ग्रहणं विदुः ॥ ८५ ॥

जहाँ पर सौ पल भी कहा हो वहाँ पल कहे रहने के कारण दूना न करे, पर जहाँ जितना पल कहे वहाँ उतना ही ग्रहण करे। केवल पल निर्देश रहने पर ही दूना नहीं किया जाता ॥ ८५ ॥

अनुपानविधिमाह—

स्थिरतां गतमक्लिन्नमन्नमद्रवपायिनः ।
भवत्याबाधजनकमनुपानमतः पिबेत् ॥ ८६ ॥

जो लोग भोजन के साथ तरल पदार्थ जल आदि का पान नहीं करते, उनका अन्न पेट में गीला न हो सूख कर नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न कर देता है। इससे अनुपान करना चाहिये यानी आहार आदि के ऊपर कुछ द्रव पदार्थ भी पीना चाहिये ॥ ८६ ॥

यथा जलगतं तैलं क्षणेनैव प्रसर्पति ।
तथा भैषज्यमङ्गेषु प्रसर्पत्यनुपानतः ॥ ८७ ॥

जैसे तेल जल के ऊपर पड़कर तत्क्षण ही फैल कर जल के सतह पर व्याप जाता है, उसी प्रकार औषधि आदि के ऊपर अनुपान के करने से वह शीघ्र ही शरीर में फैल कर अपना गुण प्रकट करती है ॥ ८७ ॥

रोचनं बृंहणं वृष्यं दोषघ्नं वातभेदनम् ।
तर्पणं मार्दवकरं श्रमक्लमहरं परम् ॥ ८८ ॥

अनुपान रुचि करता है, पुष्टि करता है, वृष्य है, दोषों का नाश करता है, वात के विबन्ध का भेदन करता है, तृप्ति करता है, भोजन को मृदु करता है तथा परिश्रम और थकान को दूर करने में श्रेष्ठ है ॥ ८८ ॥

दीपनं दोषशमनं पिपासाच्छेदनं परम् ।
रसवर्णकरञ्चापि अनुपानं सदोच्यते ॥ ८९ ॥

जो अनुपान अग्नि को दीप्त करता है, दोषों की शान्ति करता है, प्यास को दूर करता है, आहार रस को बढ़ाने वाला तथा शरीर के वर्ण को करने वाला होता है, वही उत्तम अनुपान है॥८९॥

वातापिर्भक्षितो येन त्वगस्त्येन द्विजोत्तम ।
अनुपानं कृतं तेन का कथा सर्वदेहिनाम् ॥ ९० ॥

हे द्विजोत्तम ! जिस अगस्त्य मुनि ने वातापि नामक राक्षस को खा डाला, उसने भी अनुपान किया था तो अन्यान्य शरीर-धारियों की क्या बात है । यानी अगस्त्य जैसे उग्रतपा ऋषि के लिये भी भोजन पचाने के लिये अनुपान की जरूरत हुई तो अन्यान्य प्राणी बिना अनुपान के किस तरह भोजन पचा सकते हैं । मतलब यह कि बिना अनुपान का भोजन पाक नहीं होता॥९०॥

अनुपानं करोत्यूर्जं तृप्तिं व्याप्तिं दृढांगताम् ।
अन्नसङ्घातशैथिल्य-विक्लित्तिजारणानि च ॥ ९१ ॥

अनुपान मन को प्रसन्न करता, तृप्त करता, शरीर में व्यापता, अङ्गों को दृढ़ करता, अन्न के समूह को शिथिल करता, गीला करता तथा पाक करता है । यह वाग्भट्ट के सूत्रस्थान का वाक्य है ॥

स्निग्धोष्णं मारुते शस्तं पित्ते मधुरशीतलम् ।
कफेऽनुपानं रुक्षोष्णं क्षये मांसरसं पयः ॥ ९२ ॥

वात विकार में स्निग्ध उष्ण, पित्त विकार में शीतल मधुर कफरोग में रूक्ष उष्ण तथा क्षय रोग में मांसरस और दूध, ये अनुपान प्रशस्त हैं ॥ ९२ ॥

उष्णोदकानुपानञ्च स्नेहानामथ शस्यते ।
ऋते भल्लातकस्नेहात् तत्र तोयं सुशीतलम् ॥ ९३ ॥

स्नेह पान करने के बाद गरम जल का ही अनुपान उत्तम है,

सिवाय भिलावे के तेल के । भिलावे के तेल पीने से ऊपर से शीतल जल का ही अनुपान करना चाहिये ॥ ९३ ॥

अन्यच्च—

भल्लाततौवरे स्नेहे शीतमेव जलं पिबेत् ॥ ९४ ॥
जलमुष्णं घृते पेयं यूषस्तैलेऽनुशस्यते ।
वसामज्ज्ञोऽस्तुमण्डः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥ ९५ ॥

भिलावे तथा तोवर के तेल पीने के बाद शीतल जल ही पीना चाहिये । घृत पान करके गरम जल, तैलपान करके यूष, वसा तथा मज्जा के पान के बाद मण्ड का अनुपान करना चाहिये अथवा चारों स्नेह के बाद (यदि इनका प्रबन्ध न हो सके) तो गरम जल ही पीवे ॥ ९४-९५ ॥

अन्यच्च—

शीतोष्णतोयासवमद्ययूषफलाम्बुधान्याम्लपयोरसानाम् ।
यस्यानुपानन्तु भवेद्धितं यत्तस्मै प्रदेयं त्विह मात्रया तत् ॥ ९६ ॥

शीतल जल, गरम जल, आसव, मद्य, यूष, फलों के रस, धान्याम्ल (काँजी, तुषोदक आदि), दूध, मांसरस आदि अनुपान जिस व्यक्ति के लिये जो हित हो, उसे वही अनुपान मात्रा से देनी चाहिये ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—

यूषो मांसरसो वापि शालिमुद्गादिभोजिनाम् ।
मांसादीनां चानुपानं धान्याम्लं दधिमस्तु वा ॥ ९७ ॥

शाली चावल तथा मूँग आदि अनाज खाने वाले के लिये यूष अथवा मांस रस का अनुपान ठीक है, मांस आदि पदार्थों के लिये धान्याम्ल याने काँजी आदि अथवा दही का पानी उत्तम अनुपान है ॥ ९७ ॥

अनुपानमात्रामाह—

अनुपानं प्रयोक्तव्यं व्याधौ श्लेष्मभवे पलम् ।
पलद्वयन्त्वनिलजे पित्तजे तु पलत्रयम् ॥
गुडक्षौद्रसितादीनां पलार्द्धञ्च विशेषतः ॥ ६८ ॥

कफ के कारण से हुए रोगों पर एक पल, वायु से उत्पन्न रोगों पर दो पल तथा पित्त के विकारों पर तीन पल, अनुपान का प्रयोग करना चाहिये; पर गुड़, शहद तथा शक्कर आदि का अनुपान करना हो, तो आधी आधी मात्रा पहले की अपेक्षा से प्रयोग करे। यहां पल सुश्रुत का लेना ॥ ९८ ॥

दीप्ताग्नयो महाकायाः स्नेहसात्म्या महाबला ।
विसर्पोन्मादगुल्मार्त्ताः सर्पदंष्ट्राविषार्दिताः ॥
ज्येष्ठां मात्रां पिबेयुस्ते पलान्यष्टौ विशेषतः ॥ ६६ ॥

जिनकी जठराग्नि दीप्त है, जो बड़े शरीर वाले हैं, जो स्नेह सात्म्य हैं यानी जो अधिक घी तेल आदि खाया करते हैं, जो अति बलवान् हैं; वीसर्प, उन्माद, गुल्म, सांप काटे का विष, इनसे जो पीड़ित हैं, ऐसे लोग ज्येष्ठा याने उत्तमा मात्रा का अनुपान करें, जो आठ पल की है ॥ ९९ ॥

लौहानुपानमाह—

माहिषं गव्यमाजञ्च पयो ग्राह्यं त्रिधायसि ।
माहिषं भस्मके देयमाजं क्षीरं पुनर्मतम् ॥ १०० ॥
कोष्ठदोषे कफे श्वासे कासे चापि नवज्वरे ।
गव्यमन्यत्र सर्वत्र समवारिप्रसाधितम् ॥ १०१ ॥

भैंस, गाय तथा बकरी के, ये तीन प्रकार के दूध लोहे के अनुपान में ग्राह्य हैं। भस्मक रोग में भैंस का दूध देना चाहियें, कोठे का विकार; कफरोग, श्वास, कास तथा नवज्वर में बकरी का दूध

अनुपान देवे। अन्यत्र यानी इनके सिवाय अन्य सब प्रकार प्रयोगों में लोहे का अनुपान गाय का दूध ही करे। इन दूधों के अनुपान करने की विधि यह है कि इनमें बराबर जल मिला कर चुरावे। जब जल जल जाय और सिर्फ दूध भर बच रहे तो उतार शीतल कर गुनगुना ही अनुपान करे ॥ १००-१०१ ॥

सर्वत्र गव्यमेवेति मतमाह पतञ्जलिः।
अनुपानं प्रयोक्तव्यं लौहात् षष्टिगुणं पयः ॥ १०२ ॥
यदा तु वर्द्धितं क्षीरं तदार्द्धं भोजने पिबेत्।
दद्यात् संशमने तस्य योऽत्यर्थं क्षीणपावकः ॥ १०३ ॥

पातञ्जलि के मत से लोहे सेवन के पश्चात् सर्वत्र गाय का ही दूध पोना ठीक है। लोह जो सेवन करे, उससे साठ गुना दूध अनुपान करे। यदि दूध की मात्रा बढ़ाना हो, तो पहले की मात्रा का आधा दूध यानी तीस गुना दूध भोजन के साथ पीवे। जो पुरुष अत्यन्त कम अग्नि वाला हो, उसे संशमन में दूध का प्रयोग करे ॥ १०२-१०३ ॥

अनुपानविशेषमाह—

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम्।
दधिमण्डे विषे क्षौद्रेऽनुष्णं पित्तामयेऽपि च ॥१०४॥
ऊर्द्धजत्रुगदे श्वास-कासोरःक्षतपीनसे।
गीतभाष्यप्रसक्तेषु स्वरभेदे न तद्धितम् ॥ १०५ ॥

जौ और गेहूँ के भोजन पर ठंडा जल का अनुपान हितकर है, दही, मद्य, शहद सेवन के बाद विषदोष में तथा पित्तविकार में अनुष्ण यानी मामूली ठंडा पानी हितकर है। जत्रु याने हंसुली के ऊपर के रोगों में श्वास खांसी, उरःक्षत या सील रोग में, पीनस रोग में,

गीत गाने के बाद, भाषण करने के बाद, श्रम में तथा स्वरभेद रोग में ठंडा जल पीना अहित है ॥ १०४-१०५ ॥

न पिबेत् श्वासकासार्त्तो रोगे चाप्यूर्द्धजत्रुगे।
क्षतोरस्कः प्रसेकी च यस्य चोपहतः स्वरः ॥ १०६ ॥

अन्यत्र कहा है-श्वास तथा कास से पीडित, हंसुली के ऊपर के रोग से पीडित, उरःक्षत रोगी, मुख से जिसका जल गिरता हो तथा जिसका स्वरभेद हो गया हो, वह ठंडा जल न पीवे ॥ १०६ ॥

शिशोर्भेषजपरिमाणमाह—

प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका।
अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः ॥
एकैकां वर्द्धयेत् तावत् यावत् संवत्सरो भवे ॥१०७॥

पैदा हुए बालक को पहले मास में एक रत्ती दवा की मात्रा शहद, घी, दूध या चीनी के साथ मिलाकर चटा देवे। फिर प्रति-मास एक एक रत्ती बढ़ाते जावे इस प्रकार साल में बारह रत्ती तक पहुँचावे ॥ १०७ ॥

तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्याद् यावदाषोडशाब्दिकः।
ततस्तु सप्ततिं यावत् कर्षमात्रां प्रयोजयेत् ॥
एवमेव विभागोऽयं तदूर्द्धं बालवत् क्रिया ॥ १०८ ॥*

फिर एक साल से ऊपर प्रतिसाल एक एक मासा की मात्रा बढ़ाते जावे। इस प्रकार सोलहवें वर्ष में एक कर्ष तक पहुँचा देवे। इसके बाद सत्तर वर्ष की अवस्थातक एक कर्ष की ही मात्रा स्थिर

* यहां चरकीय मान हैं। बारह मास में बारह रत्ती याने दो माशा हो जाता है। अगामी चौदह वर्षों में प्रतिवर्ष माषवृद्धि करने से सोलहवें वर्ष पूरा सोलह माशा या चरकीय कर्ष होता है।

रखे। उससे ऊपर उमर में फिर बालक जैसी मात्रा प्रयोग करे। वयः के हिसाब से मात्रा का यही क्रम विभाग जाने ॥ १०८ ॥

अन्येऽप्याहुः—

रक्तिमारभ्य कर्षन्तु मानं बालगदे मतम्।
कर्षादौ तु जलश्रुत्या क्वाथ्यस्य कार्षिको मतः ॥१०९॥

बाल रोग में मात्रा एक रत्ती से एक कर्ष तक का (दवा की उग्रतानुसार) है। काढ़ा देना हो तो क्वाथ्य द्रव्य एक कर्ष लेकर पहले कहे अनुसार याने १६ गुना पानी दे अष्टमांश शेष रखे और उस काढ़े की मात्रा एक कर्ष देवे। कर्षादौ यानी पहले कहे परिभाषानुसार एक पल तक सोलहगुना पानी देना। (ये मात्राएँ सिर्फ काष्ठौषधियों की हैं) ॥ १०९ ॥

यस्तु स्यात् क्षीरपो बालः कषायं पातुमक्षमः।
तदा भिषक् कुमारस्य तस्य धात्रीञ्च पाययेत् ॥११०॥

जो बच्चा अत्यन्त छोटा हो और दूध भर ही पीता हो, काढ़ा आदि पीने में असमर्थ हो, तो वैद्य उस लड़के को दूध पिलाने वाली को दवा पिलावे ॥ ११० ॥

ये गदानाञ्च ये योगाः प्रोक्ताः स्वे स्वे चिकित्सिते।
तेषां कल्केन संलिप्तौ कुमारं पाययेत् स्तनौ ॥१११॥

अन्य दवाएँ जो तत्तत् रोगों के चिकित्साध्यायों में कही गयी हैं, शहद आदि से लेप सा बना धाय की चूचियों पर लेप कर, उन्हें बालक को पिलावे ॥ १११ ॥

त्रिविधाः कथिता बालाः क्षीरोभयवर्त्तिनः।
स्वास्थ्यं ताभ्यामदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां व्याधिसम्भवः ॥११२॥

बालक तीन तरह के होते हैं—दूध पीने वाले, दूध और अन्न

दोनों खाने वाले तथा केवल अन्न खाने वाले। दूध और अन्न के अच्छे होने पर ये स्वस्थ तथा उनके दूषित होने पर रोगी होते हैं ॥

भैषज्यभक्षणकालमाह—

भैषज्यकालो भक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः ।
सामुद्गं भक्तसम्भुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरेऽष्टधा ॥ ११३ ॥

दवा देने के आठ काल होते हैं—भोजन के पहले, भोजन के बीच में, भोजन के पश्चात्, बारबार, सामुद्ग याने भोजन के पहिले और पीछे, भोजन में मिला कर, प्रति कौर के साथ तथा बीच बीच में एक एक कौर का अन्तर देकर। इस प्रकार आठ काल होते हैं ॥ ११२ ॥

अपाने विगुणे पूर्वं समाने मध्यभोजने ।
व्याने तु प्रातरशनमुदाने भोजनोत्तरम् ॥ ११४ ॥
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्त इष्यते ।
श्वासकासपिपासासु तत्तु कार्यं मुहुर्मुहुः ॥ ११५ ॥
सामुद्गे हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम् ।
सभोज्यं त्वौषधं भक्ष्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ॥११६ ॥

यदि अपान वायु कुपित हो तो भोजन के पूर्व दवा देवे, समान के कुपित होने पर भोजन के मध्य में, व्यान के कुपित होने पर प्रातःकाल, उदान के कुपित होने पर भोजन के पश्चात्, प्राण वायु के कोप पर ग्रास के साथ, श्वास, कास तथा प्यास के रोग में बारम्बार हिक्का याने हिचकी रोग में हलके अन्न के साथ भोजन के पूर्व और बाद तथा अरुचि होने पर नाना प्रकार के विचित्र खाद्यपेयों के साथ मिलाकर औषध का प्रयोग करे। सामुद्ग का अर्थ भोजन के पूर्व और पश्चात् जानना ॥ ११४-११६ ॥

अन्ये त्वाहुः—

अभक्तं पूर्वभक्तञ्च मध्यभक्तं सभक्तकम् ।
भक्तोपरिष्टात् सामुद्गं भक्तस्यैवान्तरेऽपि च ॥११७॥
ग्रासे ग्रासान्तरे चैव मुहुर्मुहुरिति स्मृतः ।
काला दशैते धीमद्भिरौषधस्य समासतः ॥ ११८ ॥

अभक्त यानी बिना भोजन, भोजन के पूर्व, भोजन के मध्य, भोजन के साथ, भोजन के ऊपर, भोजन के पूर्व एवं पश्चात्, भोजन के बीच बीच में, प्रति ग्रास के साथ, एक एक ग्रास बीच में छोड़कर तथा बारम्बार, ये दस काल विद्वानों ने ओषधि प्रयोग करने के बताये हैं ॥ ११७-११८ ॥

बलिनो महतो व्याधेरभुक्ते भेषजं हितम् ।
सर्वव्याधिहरं पथ्यं पूर्वभक्तं महौषधम् ॥ ११९ ॥
मध्यकायगतान् रोगान् मध्ये भक्तं निहन्ति च ।
सभक्तं सुकुमाराणां बलानामौषधद्विषाम् ॥ १२० ॥
भक्तोपरिष्टात् शस्तञ्च ऊर्द्ध्वजत्रुविकारिणाम् ।
सम्बन्धे वर्च्चसां मुद्गं दीप्ताग्निबलिनां हितम् ॥१२१॥
भक्तयोरन्तरे ज्ञेयं भोजनद्वयमध्यतः ।
तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत मध्यदेहविकारिणाम् ॥ १२२ ॥
ग्रासे ग्रासे कृशाग्नीनां वाह्यासक्तधियामपि ।
ग्रासान्तरे हितं विद्यात् कुष्ठमेहविकारिणाम् ।
श्वासकासपिपासानां तत्तु कार्य्यं मुहुर्मुहुः ॥ १२३ ॥

बलवान् तथा महाव्याधि वाले को दवा बिना भोजन हितकारी है। भोजन के पहले दी हुई दवाई सब रोगों को हरनें वाली तथा हितकारी होती है। भोजन के मध्य में दी हुई ओषधि मध्य काय याने शरीर के बीचले भाग के रोगों को नाशती है। बालक, सुकुमार

तथा औषधि खाने से मुंह मोड़ने वालों को भोजन के साथ दवा देवे। हंसली के ऊपर भाग के रोग वालों को भोजन के पश्चात् दवा देवे। तेज अग्नि वाले तथा बलवान् पुरुषों को और दस्त-कब्ज रोगियों को भोजन के पूर्व एवं पश्चात् दवा दी जाती है। जो दो भोजनों के बीच का समय है उसे 'भक्तान्तर' कहते हैं; इस समय शरीर के मध्यभाग के रोग वालों को दवा देवे। स्त्री-सम्भोग में आसक्त तथा मन्दाग्नि वाले पुरुष को प्रति ग्रास के साथ दवा देनी चाहिये। कोढ़ तथा मेह रोग से पीड़ित पुरुषों को दो ग्रासों के बीच में दवा देनी चाहिये। श्वास, कास तथा प्यास रोगी को बारम्बार दवा दे॥

अन्यच्च—

भैषज्यमभ्यवहरेत् प्रभाते प्रायशो बुधः।
कषायांस्तु विशेषेण तत्र भेदस्तु दर्शितः॥ १२४॥

वैद्य प्रायः सबेरे ही दवाओं का प्रयोग करे, विशेष कर के कषाय यानी स्वरस, कल्क, शीत, फाण्ट और क्वाथ को सुबह ही देवे, (पर यह कोई नियम बँधा हुआ नहीं; दोष, प्रकृति आदि का विचार कर के मध्याह्न, सन्ध्या आदि अन्यान्य समय भी दवा देनी चाहिये)॥ १२४॥

प्रथमकालः—

ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम्।
किञ्चित् सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने॥
सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि॥ १२५॥

मनुष्यों को दवा सेवन के ये पाँच समय हैं—किञ्चित् सूर्योदय पर, सूर्य के उदय होने पर, दिन के भोजन के समय, शाम के वक्त, बारम्बार तथा रात को॥ १२५॥

प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः ॥
लेखनार्थं च भैषज्यं प्रभातेऽनन्नमाहरेत् ।
एवं स्यात् प्रथमः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ॥१२६॥

प्रायः पित्त और कफ के उद्रेक यानी कोप होने पर, विरेचन तथा वमन के लिये और दोषों के लेखन के लिये, सुबह खाली पेट ही दवा पीवे । यह दवा लेने का पहला काल है ॥ १२६ ॥

द्वितीयकालः—

भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते ।
अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत् ॥ १२७ ॥
समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावपि दीपनम् ।
दद्याद् भोजनमध्ये तु भैषज्यं कुशलो भिषक् ॥१२८॥
व्यानकोपे च भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत् ॥
हिक्काक्षेपककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात् ।
एवं द्वितीयकालश्च प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि ॥ १२९ ॥

अपान वायु के विगुण याने कुपित होने पर दवा भोजन के पहले देना अच्छा है । अरुचि होने पर विचित्र याने अनेक प्रकार के सुस्वादु भोजन के साथ मिला कर दवा खिलावे । समान वायु के कोप में तथा मन्दाग्नि में दीपन दवाएं भोजन के बीच में खिलावे । व्यान वायु के कोप में भोजन के अन्त में दवा देवे । हिचकी, आक्षेपक वात तथा कम्प रोग में भोजन के पूर्व तथा पश्चात् औषधि सेवन करावे । दवा के प्रयोग में यह द्वितीय काल है ॥ १२७-१२९ ॥

तृतीयकालः—

उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकारिणि ।
ग्रासे ग्रासान्तरे देयं भैषज्यं सात्म्यभोजने ॥ १३० ॥

प्राणे प्रदुष्टे सात्म्यस्य भक्तस्यान्ते च दीयते ।
औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात् तृतीयकः ॥१३१॥

स्वभंग आदि करने वाले उदान वायु के, कुपित होने पर, सात्म्य भोजन के साथ प्रति ग्रास के साथ अथवा दो दो ग्रासों के मध्य में दवाई देवे । प्राण वायु के कुपित होने पर सात्म्य भोजन के अन्त में, कुशल वैद्य लोग प्रायः दवा दिया करते हैं । यह दवा देने का तीसरा काल है ॥ १२०-१२१ ॥

चतुर्थकालः—

मुहुर्मुहुश्च तृट्छर्दि-हिक्काश्वासगरेषु च ।
सान्नश्च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः ॥ १३२ ॥

प्यास, कै, हिचकी, श्वास तथा विष-विकार में वारंवार भोजन के साथ दवा देवे । यह दवा देने का चौथा काल है ॥ १३२ ॥

पञ्चमकालः—

ऊर्द्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा ।
पाचने शमने देयमनन्नं भेषजं निशि ।
इत्ययं पञ्चमः कालः प्रोक्तो भैषज्यहेतवे ॥ १३३ ॥

हंसुली के ऊपर होने वाले रोगों में, लेखन, बृंहण, पाचन तथा संशमन दवाएं पेट में अन्न न रहने पर रात को देवे । यह दवा देने के निमित्त पाँचवां काल कहा गया ॥ १३३ ॥

क्रियाकालव्यवस्थामाह—

या तूदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च ।
सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥१३४॥

जिस क्रिया के करने से कुपित हुए दोषों की शान्ति हो जाती है तथा अन्य रोग उत्पन्न नहीं होते, वही क्रिया याने 'चिकित्सा'

कहलाती है; न कि वह क्रिया जो प्रस्तुत रोग को शान्त कर देती है पर नये रोग उत्पन्न कर देती है ॥ १३४ ॥

तथा च चरके चिकित्साप्राभृतीयाध्याये—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा हि क्रिया विकाराणां कर्म्म तद्भिषजां मतम् ॥१३५॥

जिन क्रियायों के करने से शरीर में कम अधिक हुए दोष और धातुएं समता को प्राप्त होती हैं, वही क्रिया रोगों की चिकित्सा है और वैद्यों का भी काम वही है याने धातुसाम्य करना ही वैद्यों का काम है ॥ १३५ ॥

अल्पे गदे महत्कर्म्म क्रिया लघ्वी महागदे ।
द्वयमेतदकौशल्यं कौशल्यं युक्तिकर्म्मता ॥ १३६ ॥

छोटी बीमारियों में बड़ा कर्म करना तथा बड़े रोगों में छोटे कर्म करना, वैद्यों की अकुशलता है। कुशलता तो वह है, कि जैसी बिमारी हो उसके योग्य कर्म युक्तिपूर्वक किया जाय ॥ १३६ ॥

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां समाचरेत् ।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासङ्करो मतः ॥ १३७ ॥

यदि एक प्रकार की क्रिया या दवा से रोग हटता सा न दीखे, तो वैद्य दूसरी क्रिया करे, पर जब पहले दी हुई दवा का असर दूर हो जाय तभी करे; क्योंकि जब पहली दवा का असर रहेगा तो दूसरी दवा के साथ उसके गुण वीर्य आदि की समानता न होने से दोनों के संयोग से नूतन रोगों के आविर्भाव की सम्भावना होती है। इस विधि से मुख्य क्रियाओं के बदलने से क्रिया सांकर्य नहीं होता ॥ १३७ ॥

तथापि साङ्कर्य्यमाह—

क्रियाभिस्तुल्यरूपाभिः क्रियासाङ्कर्य्यमिष्यते ।
भिन्नरूपतया तास्तु तन्न कुर्वन्ति दूषणम् ॥ १३८ ॥

एक ही रूप के क्रियाओं के एक साथ करने से क्रिया साङ्कर्य होता है, पर यदि एक ही प्रकार की दवा भिन्न भिन्न रूपमें प्रयोग किया जाय तो वह दोषयुक्त नहीं होता। इससे यदि एक रोग में समान गुणयुक्त दो दवाएँ देने पड़े तो दोनों की कल्पना भिन्न भिन्न रीति से करनी चाहिये, जैसे; एक वटिका के रूप में दिये, तो एक अवलेह आदि ॥ १३८ ॥

षड्भिः केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च ।
इच्छन्ति मुनयः प्रायो रसस्य परिवर्त्तनम् ॥ १३९ ॥
शीते शीतप्रतीकार उष्णे चोष्णनिवारणम् ।
कृत्वा कुर्य्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ १४० ॥

किसी किसी के मत से छः दिन रात में तथा किसी किसी के मत से सात दिन रात में शरीर के रस का परिवर्त्तन होना मुनियों ने कहा है। इसलिए प्रातःकाल में याने जिस रोग के लिये जो समय उपयुक्त है, उसी काल में ही चिकित्सा करे। यदि उष्णकाल में चिकित्सा करने योग्य कोई रोग शीतकाल में ही प्रबल हो उठे या शीतकाल में चिकित्सा करने योग्य रोग उष्णकाल में ही उग्र रूप धारण करे तो उपयुक्त काल न समझ कर चुप न बैठे। ऐसी अवस्था में चिकित्सा का वही उपयुक्त काल है। रोगी को उपयुक्त स्थान में रख कृत्रिम रूप से शीत उष्ण पहुंचा कर चिकित्सा कर लेवे। मूढ़ता से अथवा लापरवाही से क्रियाकाल को न बीता दे ॥ १३९-१४० ॥

सर्वत्र रोगे प्रशमाय कर्म्म हीनातिरिक्तं विपरीतकालम् ।
मिथ्योपचारान्न हि तद्विकारं शान्ति नयेत् पथ्यमपि प्रयुक्तम् ॥

जितने प्रकार के चिकित्सा कर्म हैं यदि वे पथ्य याने रोग के लिये उपयुक्त भी हों, तो भी यदि हीन मात्रा में अधिक मात्रा में, समय बीतने पर तथा जैसा तैसा याने अयथावत् प्रयोग किये जायँ, तो वे रोग की शान्ति नहीं करते ॥ १४१ ॥

परिभाषिकीसंज्ञामाह, चतुरम्लं पञ्चाम्लञ्च—

वृक्षाम्लमातुलुङ्गाम्लौ बदराम्लाम्लवेतसौ ।
चतुरम्लमिदं तद्धि पञ्चाम्लञ्च सदाडिमम् ॥१४२॥

वृक्षाम्ल याने इमली; मातुलुंग या बिजोरा नीबू, खट्टे बेर तथा अमल बेंत, ये चारों को मिलाकर 'चतुरम्ल' कहते हैं। यदि इनके साथ खट्टे अनार मिलाया जाय तो उनको 'पंचाम्ल' कहते हैं ॥१४२॥

पञ्चलवणम्—

सौवर्च्चलं सैन्धवञ्च विडमौद्भिदमेव च ।
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ।
एक-द्वि-त्रि-चतुः पञ्च-लवणानि क्रमाद्विदुः ॥ १४३ ॥

काला नमक; सेंधानमक, बिरिया नमक, उद्भिद नमक तथा समुद्र का नमक, ये पांच 'पंचलवण' कहलाते हैं। इस क्रम से एक एक लवण, दो द्विलवण, तीन त्रिलवण और चार चतुर्लवण कहलाते हैं

अष्टमूत्रम्—

अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषञ्च यत् ।
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ।
इति प्रोक्तानि मूत्राणि यथासामर्थ्ययोगतः ॥ १४४ ॥

भेडी का मूत्र, बकरी का मूत्र, गाय का मूत्र, भैंस का मूत्र, हाथी का मूत्र, ऊँट का मूत्र, घोड़े का मूत्र और गधे का मूत्र, इन्हें 'मूत्रवर्ग' कहते हैं। इन्हें सामर्थ्यानुसार प्रयोग करे ॥ १४४ ॥

चतुःस्नेहाः—

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः ।
पानाभ्यञ्जनबस्त्यर्थं नस्यार्थञ्चैव योगतः ॥ १४५ ॥

घी, तेल, चरबी और मज्जा इन चारों को 'चार स्नेह' कहते हैं। इनका उपयोग पीने, मालिश करने, पिचकारी देने तथा नाक से चढ़ाने के लिये होता है ॥ १४५ ॥

अष्टक्षीरम्—

अविक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषञ्च यत् ।
उष्ट्रीणां हस्तिनीनाञ्च वडवायाः स्त्रियस्तथा ॥ १४६ ॥

भेड़ी का दूध, बकरी का दूध, गाय का दूध, भैंस का दूध, ऊँटनी का दूध, हथनी का दूध, घोड़ी का दूध तथा स्त्री का दूध, इन आठों को 'दुग्धवर्ग' कहते हैं ॥ १४६ ॥

त्रिसुगन्धित्रिजातचातुर्जातकाद्यश्च—

चातुर्जातं समाख्यातं त्वगेलापत्रकेशरैः ।
तदेव त्रिसुगन्धि स्यात् त्रिजातकमकेशरम् ॥१४७॥

तज, इलायची, तेजपात और नागकेसर, इन चारों को 'चातुर्जात' कहते हैं। चातुर्जात से नागकेसर को निकाल देने से शेष तज, तेजपात और इलायची 'त्रिसुगंधि' या 'त्रिजात' कहलाते हैं ॥१४७॥

सर्वगन्धम्—

चातुर्जातककर्पूर-कक्कोलागुरुसिह्लकम् ।
लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥ १४८ ॥

चातुर्जात, कपूर, कक्कोल, अगर, शिलाख्य तथा लौंग, इन्हें 'सर्वगन्ध' कहते हैं ॥ १४८ ॥

त्रिफलाद्वयम्—

पथ्य बिभीतकं धात्री महती त्रिफला मता ।

स्वल्पा काश्मर्य्यखर्जूर-परूषकफलैर्भवेत् ॥ १४६ ॥

हरड़, बहेड़ा और आमला को मिलाकर 'महती त्रिफला' कहते हैं। गंभारी खजूर और फालसे को मिलाकर 'स्वल्प त्रिफला' कहते हैं।

त्र्यूषणं, त्रिमदश्च—

पिप्पली शृङ्गवेरञ्च मरिचं त्र्यूषणं विदुः ।
विडङ्गमुस्तचित्रैश्च त्रिमदः समुदाहृतः ॥ १५० ॥

पीपल, सोंठ और गोलमिर्च इन तीनों को 'त्र्यूषण, व्योष या त्रिकटु (त्रिकुटा)' कहते हैं। वायविडङ्ग, मोथा और चीतामूल 'त्रिमद' कहते हैं ॥ १५० ॥

पञ्चक्षीरिवृक्षाः—

उडुम्बरो वटोऽश्वत्थो वेतसः प्लक्ष एव च ।
पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः संज्ञायां समुदाहृताः ॥ १५१ ॥

गूलर, बड़, पीपल, बेंत और पिलखन, ये पांच दुग्ध वृक्ष हैं; इन्हें 'पांच क्षीरी वृक्ष' कहते हैं ॥ १५१ ॥

पञ्चपल्लवम्—

आम्र-जम्बु-कपित्थानां बीजपूरकबिल्वयोः ।
गन्धकर्म्माणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम् ॥ १५२ ॥

आम, जामुन, कैथ, बिजोरा तथा बेल, इनके पत्ते को 'पंचपल्लव' कहते हैं। ये सब जगह गंधकर्म में प्रयुक्त होते हैं ॥ १५२ ॥

पञ्चकोलं, षडूषणञ्च—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरम् ।
पञ्चकोलमिदं प्राहुः पञ्चोषणमथापरे ॥ १५३ ॥

पीपला, पीपरामूल, चाभ, चीतामूल तथा सोंठ, ये 'पञ्चोषण या पंचकोल' कहलाते हैं ॥ १५३ ॥

पञ्चकोलं समरिचं षडूषणमुदाहृतम् ॥ १५४ ॥

पञ्चकोल में मिर्च भी शामिल कर दे, तो मिल कर 'षड्रूषण' कहायेंगे ॥ १५४ ॥

पञ्चमूलदशमूलादयः—

बिल्वश्योणाकगाम्भारी पाटला गणिकारिका ।
एतन्महत् पञ्चमूलं संज्ञया समुदाहृतम् ॥ १५५ ॥

बेल, सोनापाठा, गम्भारी, पाढ़ल और गनियारी, इन पांचों को महत् या बड़ी 'पञ्चमूल' कहते हैं ॥ १५५ ॥

शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहतीद्वयगोक्षुरम् ।
कनीयः पञ्चमूलं स्याद् उभयं दशमूलकम् ॥ १५६ ॥

सरिवन, पिठवन, छोटी कटेहली, बड़ी कटेहली तथा गोखरू, इन पांचों को लघु 'पञ्चमूल' या छोटी पञ्चमूल कहते हैं। महत् पञ्चमूल और लघु पञ्चमूल को मिला कर 'दशमूल' कहते हैं ॥१५६॥

तृणपञ्चमूलम्—

कुशः काशः शरो दर्भः इक्षुश्चैव तृणोद्भवम् ।
पञ्चतृणमिदं ख्यातं तृणजं पञ्चमूलकम् ॥ १५७ ॥

कुश, कास, शर, डाभ और गन्ना, इन पांचों को 'पञ्चतृण' तथा इनके जड़ों को 'तृणज पञ्चमूल' कहते हैं ॥ १५७ ॥

वल्लीपञ्चमूलम्—

विदारी चाजशृङ्गी च रजनी सारिवामृतम् ।
वल्लीजं पञ्चमूलञ्च कथितं मुनिपुङ्गवैः ॥ १५८ ॥

विदारीकन्द, मेढासींगी, हल्दी, अनन्तमूल तथा गिलोय, इन पांचों को 'वल्लीज पञ्चमूल' कहते हैं ॥ १५८ ॥

कण्टकपञ्चमूलम्—

करमर्द्दः श्वदंष्ट्रा च हिंस्रा झिण्टी शतावरी ।
कण्टकाख्यं पञ्चमूलं निर्दिष्टं सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ १५९ ॥

करञ्ज, गोखरू, तालमखाने, पियाबांस और शतावर, ये पांच सूक्ष्म बुद्धि पण्डितों द्वारा 'कंटकाख्यपञ्चमूल' कहे गये हैं ॥ १५९ ॥

अष्टवर्गः (जीवनीयाष्टकम्)—

ऋद्धिर्वृद्धिश्च मेदे द्वे तथार्षभकजीवकौ ।
काकोली-क्षीरकाकोलीत्यष्टवर्गः प्रकीर्त्तितः ॥ १६० ॥

ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, ऋषभक, जीवक, काकोली तथा क्षीरकाकोली ये आठ 'अष्टवर्ग' कहलाते है ॥ १६० ॥

जीवनीयगणः—

अष्टवर्गश्च पर्णिन्यौ जीवन्ती मधुकं तथा ।
जीवनीयगणः प्रोक्तो जीवनश्च पुनस्ततः ॥ १६१ ॥

अष्टवर्ग, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, शाक और मुलेठी, ये 'जीवनीयगण' कहलाते हैं ॥ १६१ ॥

श्वेतमरिचम्—

शोभाञ्जनस्य यद्बीजं तत् श्वेतमरिचं स्मृतम् ॥ १६२ ॥

सहजने के बीजों को 'श्वेतमरिच' कहते हैं ॥ १६२ ॥

ज्येष्ठाम्बु सुखोदकञ्च—

ज्येष्ठाम्बु तण्डुलाम्बु स्यात् उष्णाम्बु च सुखोदकम् ॥ १६३ ॥

तण्डुलोदक को 'ज्येष्ठाम्बु' तथा उष्ण जल को 'सुखोदक' कहते हैं॥

गुडाम्बु—

गुडयोगात् गुडाम्बु स्यात् गुडवर्णरसान्वितम् ॥ १६४ ॥

जल में इतना गुड़ घोले कि उसमें गुड़ के रङ्ग तथा स्वाद आ जायँ तो उस जल को 'गुडाम्बु' कहते हैं ॥ १६४ ॥

वेशवारः—

निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् ।
कृष्णा मरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः ॥ १६५ ॥

मांस से हड्डी आदि निकाल, पीसकर, गुड़ मिला कर पकावे और थोड़ा पीपरा और मिर्च मिलावे, घृत से संस्कृत करे तो उसे 'वेशवार' कहते हैं ॥ १६५ ॥

काञ्जिकम्-अम्लमूलकञ्च—

काञ्जिकं व्युषितं पक्वं मूलकं त्वम्लमूलकम् ॥ १६६ ॥

काँजी में डालकर बासी रख खट्टे होने पर पका लेने से मूली को 'अम्लमूलक' कहते हैं ॥ १६६ ॥

कट्वरादिकम्—

दध्नः ससारकस्यात्र तक्रं कट्वरमिष्यते ।
तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्द्धाम्बु निर्जलम् ॥ १६७ ॥

विना मक्खन निकाला हुआ बिलोया दही को 'कट्वर' कहते हैं। दही में चौथाई जल मिलाकर बिलोने से 'तक्र', आधा जल मिलाकर बिलोने से 'उदश्वित्' और बिना जल के बिलोने से 'मथित' होता है ॥ १६७ ॥

दधिकूर्चिका-तक्रकूर्चिका—

दध्ना सह पयः पक्वं सा भवेद्दधिकूर्चिका ।
तक्रेण पक्वं यत् क्षीरं सा भवेत्तक्रकूर्चिका ॥ १६८ ॥

दही और दूध मिलाकर पकाने से जो छेना बनता है उसे 'दधिकूर्चिका' तथा छाछ के साथ दूध मिलाकर पकाने से जो छेना बनता है उसे 'तक्रकूर्चिका' कहते हैं ॥ १६८ ॥

शुक्तम्—

कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च ।
यत्र द्रव्येऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ १६९ ॥

कन्दमूल तथा फल आदि और तेल तथा नमक मिलाकर पात्र

में बन्दकर कुछ दिन रखकर खट्टे होने से जो पदार्थ बनता है उसे 'शुक्त' कहते हैं ॥ १६९ ॥

शीधुः, आसवः, मैरेयम्—

शीधुरिक्षुरसैः पक्वैरपक्वैरासवो भवेत् ।
मैरेयं धातकीपुष्पं गुडधान्याम्लसंहितम् ॥ १७० ॥

ईख के रस को पका कर जो मद्य तैयार होता है, उसे 'सीधु' कहते हैं तथा बिना पक्व किये ही जो मद्य बनता है, उस को 'आसव' कहते हैं। धाय के फूल, धान्याम्ल और गुड मिलाकर जो मद्य तैयार होता है, उसे 'मैरेय' कहते हैं ॥ १७० ॥

आरनालम्—

आरनालन्तु गोधूमैरामैः स्यान्निस्तुषीकृतैः ।
पक्वैर्वा सन्धितैस्तत्तु सौवीरसदृशं गुणैः ॥ १७१ ॥

छिलके रहित गेहूं को पकाकर या कच्चे ही जल के साथ जो सन्धान किया जाता है, उसे 'आरनाल' (काञ्जी) कहते हैं। इस के गुण आदि सौवीर जैसे जानना ॥ १७१ ॥

अम्लवटकाः—

मन्थनी नूतना धार्य्या कटुतैलेन लेपिता ।
निर्मलेनाम्बुनापूर्य्य तस्याञ्चूर्णं विनिक्षिपेत् ॥ १७२ ॥
राजिकाजीरलवणहिङ्गुशुण्ठीनिशाकृतम् ।
निक्षिपेद्वटकांस्तत्र भाण्डस्यास्यञ्च मुद्रयेत् ॥
ततो दिनत्रयादूर्ध्वमम्लाः स्युर्वटका ध्रुवम् ॥ १७३ ॥

नये मन्थन के पात्र के अन्दर—दीवारों को सरसों के तेल से लीप देवे और निर्मल पानी से भर देवे। फिर उसमें राई, जीरा नमक, हींग, सोंठ और हल्दी के चूर्ण यथा योग्य डाले। फिर उड़द के बड़े बना उस में डाल कर, उसका मुख बन्द कर मुद्रा दे

देवे । तीन दिन के बाद बड़े खट्टे हो जाँय तब खोल ले। ये बड़े 'काञ्जी बड़े' कहलाते हैं ॥ १७२-१७३ ॥

कृशरा त्रिशरा वा—

तिलतण्डुलमाषैश्च कृशरा त्रिशरेति सा ॥ १७४ ॥

तिल, चाँवल और उड़द के दाल को मिला कर जो खिचड़ी पकायी जाती है, उसे 'कृशरा' या 'त्रिशरा' कहते हैं ॥ १७४ ॥

स्वल्पचुक्रम्—

यन्मस्त्वादिशुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकम् ।
धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं स्वल्पचुक्रं तदुच्यते ॥ १७५ ॥

शुद्ध भाण्ड में दही का तोड़, गुड़, शहद और काञ्जी मिला, मुख बन्द कर तीन रात तक धान की ढेरी में दबा रखे। फिर उसे निकाल ले। यह सन्धान 'स्वल्पचुक्र' या 'शुक्तचुक्र' कहलाता है॥

आसवारिष्टयोर्लक्षणम्—

यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः ।
अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यात् सम्पक्वो मधुरद्रवैः ॥१७६॥

विना पकाये ही दवाओं में जल डाल कर सन्धान कर के जो मद्य तैयार किया जाता है, उसको 'आसव' कहते हैं। दवा आदि का काढ़ा बना उस में मिश्री आदि मीठे पदार्थ तथा जल मिला, पका कर जो मद्य तैयार किया जाता है, उसे 'अरिष्ट' कहते हैं ॥१७६॥

शीधुमाह—

आशृतश्चापि शीधुः स्यादित्याहुस्तद्विदो जनाः ॥ १७७ ॥

(आशृत इति सम्यक् पक्वः ।)

अच्छी तरह पकाकर ईख आदि के मधुर रस से जो मद्य तैयार होता है, उसे 'पक्वरस सीधु' तथा बिना पकाये ही जो मद्य सिद्ध किया जाता है, उसे 'शीतरस सीधु' कहते हैं ॥ १७७ ॥

सुरायाः प्रकारभेदे नामानि—

सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात् ततः कादम्बरी घना ।
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद्धनः ॥ १७८ ॥
परिपक्वान्नसंधानसमुत्पन्नां सुरां जगुः ।
पुक्कसो हृतसारः स्यात् सुराबीजञ्च किण्वकम् ॥१७९॥

सुरा के ऊपर जो स्वच्छ जल सा भाग होता है, उसको 'प्रसन्ना' कहते हैं। उसके नीचे जो घना भाग होता है, उसे 'कादम्बरी' कहते हैं। उसके नीचे जो और कुछ घना भाग होता है, वह 'जगल' कहा जाता है। जगल के नीचे भी जो और घना भाग होता है, उसे 'मेदक कहते हैं। चावल आदि अन्न को पका कर संधान कर अग्नि के संयोग से यन्त्र द्वारा जो मद्य खींचा जाता है, उसे 'सुरा' कहते हैं। सार उतार लेने पर यन्त्र में जो परार्थ बच जाता है, उसे 'पुक्कस' कहते हैं। सुराबीज याने जिससे सुरा बनता है, उसको 'किण्वक' कहते हैं ॥ १७८–१७९ ॥

वारुणी—

यत्तालखर्जूररसैः सन्धिता सैव वारुणी ॥ १८० ॥

ताल और खजूर के रसों से यन्त्र द्वारा जो मद्य तैयार किया जाता हैं उसे 'वारुणी' याने ताड़ी कहते हैं ॥ १८० ॥

गुडेक्षुमृद्वीकाशुक्तानि—

गुडाम्बुना सतैलेन कन्दशाकफलैस्तथा ।
आश्रुतं चाम्लतां जातं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥ १८१ ॥

गुड़, जल, तेल, कन्दमूल, शाक तथा फल को एक बर्त्तन में रख मुद्रा दे कुछ दिन रख दे। जब खट्टा हो जायं, उसका उपयोग करे। इसे 'गुड़शुक्त' कहते हैं ॥ १८१ ॥

एवमेवेक्षुशुक्तं स्यात् मृद्वीकासम्भवं तथा ॥ १८२ ॥

ऊपर कहे अनुसार जब गन्ने का शुक्त बनाया जाता है, तो उसे 'इक्षुशुक्त' तथा दाखों से बनाये जाने पर उसे 'द्राक्षाशुक्त' कहते हैं।

तुषाम्बु-सौवीरादीनि—

तुषाम्बु चाश्रृतं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः।
सुनिस्तुषैश्च पक्वैश्च सौवीरं चाश्रृतं भवेत् ॥ १८३ ॥

उड़द और जौओं को दल कर पानी के साथ बर्त्तन में रख मुद्रा दे, कुछ दिन के बाद खट्टे होने से उपयोग में लावे। उसे 'तुषाम्बु' कहते हैं। छिल के हीन जौओं को पकाकर जल के साथ वर्त्तन में मुद्रा दे संधान करने से 'सौवीर' बनता है ॥ १८३ ॥

कुल्माषो धान्यमण्डेन चाश्रृतं काञ्जिकं भवेत् ॥१८४

धान्यमण्ड के साथ पकायी कुल्थी मिलाकर मुद्रा दे खट्टे होते तक रखने से जो द्रव्य तैयार होता है, उसे 'काँजी' कहते हैं ॥१८४॥

अन्यद् यदाह चरकः तुषोदकम्—

भृष्टान्माषतुषान् सिद्धान् यवचूर्णसमन्वितान्।
आश्रृतानम्भसा तद्वज्जातं तच्च तुषोदकम् ॥ १८५ ॥

उडद के छिलकों को भूँजकर, कुछ जौ का चूर्ण मिला पकावे और काँजी की तरह सन्धान कर लेवे, तो 'तुषोदक' तैयार होता है ॥१८५॥

काञ्जिकम्—

आशुधान्यं क्षोदितञ्च बालमूलन्तु खण्डशः।
कृतं प्रस्थमितं पात्रे जलं तत्राढकं क्षिपेत् ॥ १८६ ॥
तावत् सन्धीय संरक्षेत् यावत् अम्लत्वमागतम्।
काञ्जिकं तत्तु विज्ञेयमेतत् सर्वत्र पूजितम् ॥ १८७ ॥

आशुधान्य यानी जल्दी पक जाने वाले धान्य साँठी आदि को कूट कर तथा कुछ बाल मूली यानी कोमल कोमल मूलियों के छोटे छोटे टुकड़े कर, एक प्रस्थ परिमित किसी पात्र में रख उसमें एक

आढ़क जल भर देवे। फिर मुद्रा दे जब तक खट्टा न हो जाय संधान कर रखे। यही उत्तम 'काँजी' बनता है। इसे सब जगह उपयोग कर सकते हैं ॥ १८६-१८७ ॥

शिण्डाकी—

शिण्डाकी चाश्रुता ज्ञेया मूलकैः सर्षपादिभिः ॥ १८८ ॥

मूली को टुकड़े टुकड़े कर सरसों, हींग, जीरा आदि मिला कुछ जल दे, वर्त्तन में बन्दकर कुछ दिन रखे रहे। खट्टे हो जाने पर उपयोग में लावे। यह 'शिण्डाकी' है ॥ १८८ ॥

मधुशुक्तम्—

जम्बीरस्वरसप्रस्थं मधुनः कुडवं तथा ।
तावञ्च पिप्पलीमूलादेकीकृत्य घटे क्षिपेत् ।
धान्यराशौ स्थितं मासं मधुशुक्तं तदुच्यते ॥ १८९ ॥

जम्भीरी नीबू का रस एक प्रस्थ, एक कुडव शहद तथा एक कुडव पिपरामूल, एकत्र एक घड़े में रखे और मुद्रा दे धानकी ढेरी में दबा रखे। एक मास के बाद निकाल लेवे। यह 'मधुशुक्त' है ॥१८९॥

खडयूषकाम्बलिकयोर्लक्षणम्—

तक्रं कपित्थचाङ्गेरी मरिचाजाजिचित्रकैः ।
सुपक्वः खडयूषोऽयमयं काम्बलिकोऽपरः ॥ १९० ॥
दध्यम्ललवणस्नेह-तिलमाषसमन्वितः :
संज्ञा प्रमथ्या विहिता योगे दीपनपाचने ॥ १९१ ॥

मठा, कैथ, अम्ललोणी, मरिच, अजवायन और चीता मिलाकर पकाने से जो यूष बनता है उसे 'खड़यूष' कहते हैं। खट्टे दही, नमक, तेल, तिल तथा उड़द मिलाकर जो यूष बनता है उसे 'काम्बलिक' कहते हैं। इसका दूसर नाम 'प्रमथ्या' भी है। ये दोनों यूष दीपन-पाचन हैं ॥ १९०-१९१ ॥

तर्पणम्—

द्रवेणालोडितास्ते स्युस्तर्पणं लाजशक्तवः ॥ १९२ ॥

धान की खीलों के सत्तू का द्रव के साथ घोल बना कर पीया जाय तो 'तर्पण' कहलाता है ॥ १९२ ॥

मन्थः—

शक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः ।
नात्यच्छा नातिसान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते ॥१९३॥

सत्तू को घी में सान कर ठण्डे जल में न अधिक पतला और न अधिक गाढा सा घोल बनाया जाय तो उसे 'मन्थ' कहते हैं ॥१९३॥

उष्णोदकम्—

क्वाथ्यमानन्तु यत्तोयं निष्फेनं निर्म्मलीकृतम् ।
भवत्यर्द्धावशिष्टन्तु तदुष्णोदकमिष्यते ॥ १९४ ॥

पानी को उबाल कर फेन रहित और निर्मल हो आधा बचने पर उतार लिया जाय, तो उसे 'उष्णोदक' कहते हैं ॥ १९४ ॥

भेषजनामानि—

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम् ।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम् ॥ १९५ ॥
विद्याद्भेषजनामानि तच्चापि द्विविधं स्मृतम् ।
सुस्थस्यौजस्करं किञ्चित् किञ्चिदार्त्तस्य रोगनुत् ॥ १९६ ॥

इति परिभाषाप्रदीपे तृतीयः खण्डः ।

चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन और हित, ये औषध के नाम हैं। औषधि दो तरह की होती है; एक जो स्वस्थ पुरुष के ओज आदि को बढ़ाती है और दूसरी जो रोगी के रोग को दूर करती है ॥ १९५-१९६ ॥

तृतीय खण्ड की भाषाटीका समाप्त हुई ॥



चतुर्थः खण्डः

पञ्चकर्म्माण्याह, संशोधनानामुपयोगित्वम्—

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिताः कालेन पाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥ १॥

दोष याने वात, पित्त और कफ जो कि काल से याने अपने शान्ति के समय में तथा पाचन आदि औषधि से दबाये गये हों, कभी समय पाकर फिर भी कुपित हो सकते हैं; मगर संशोधन से शुद्ध किये गये दोष फिर सिर नहीं उठा सकते॥ १॥

पञ्चधा शोधनम्—

वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
ज्ञेयं पञ्चविधं कर्म मात्रा तस्य प्रयुज्यते॥

यदा वहेद् बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं हि तत्॥ २॥

कै कराना, दस्त कराना, नस्य, निरूह, अनुवासन, ये पाँच प्रकार के शोधन कर्म हैं। इन्हें मात्रा से प्रयोग करते हैं। जिस कर्म से दोष शरीर के बाहर निकल जाते हैं, उसे 'संशोधन' कहते हैं॥२॥

तेषां प्रयोगावस्था—

न नस्यं न्यूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे।
न चोनद्वादशे धूमः कवलो नोनपञ्चमे॥ ३॥
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ।
न न्यूनषोडशातीते सप्ततौ रक्तमोक्षणम्॥
आजन्ममरणात् शस्तः प्रतिमर्षस्तु सर्वदा॥ ४॥

जिसकी उम्र सात साल से कम तथा अस्सी से ऊपर की हो, उसे नस्य न दे। बारह वर्ष से नीचे के उम्र वाले को धूआँ न

पिलावे, पांच साल से कम उम्र वाले को कवलग्रह न करावे, जिसकी उम्र दस वर्ष से नीचे की हो अथवा सत्तर पार कर गयी हो, उसे जुलाब न देवे तथा सोलह साल से कम और सत्तर साल से अधिक उम्र वाले को फस्द न खोले। प्रतिवर्ष नस्य जन्म से लेकर जब तक प्राण रहे तब तक प्रयोग करता रहे तो अच्छा है ॥ ३-४ ॥

तत्रादौ वमनविधिमाह—

पूर्वाह्णे पाययेत् पीतं जानुतुल्यासने स्थितः ।
तन्मना जातहृल्लास-प्रसेकश्छर्दयेत् ततः ॥ ५ ॥

दिन के प्रथम भाग में ही वमनकारक दवा पिलावे और जानु जितने ऊँचे आसन पर बैठ कर रोगी मन को वमन की ओर ही लगा रखे। फिर जब हृल्लास याने वमन होने लगे और मुख से लार आदि गिरने लगें, तब अङ्गुली आदि लगा कर वमन करा देवे ॥५॥

चरकस्त्वाह—

माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः ।
सहस्य प्रथमे चैव वाहयेद्दोषसञ्चयम् ॥ ६ ॥

वैशाख मास के पहले याने चैत में, भादों के पहले याने श्रावण में तथा पौष मास के पहले याने अगहन में, सञ्चित हुए दोषों को वमन-विरेचनादि द्वारा बाहर निकाल देवे। यह चरक का मत है ॥६॥

अन्यच्च—

मधौ सहे च नभसि मासि दोषांस्तु वाहयेत् ॥ ७ ॥

अन्यत्र कहा है कि वैशाख, भादों तथा पूस के माह में दोषों को बाहर करे ॥ ७ ॥

अयुक्तऋतुमाह—

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षहिमागमाः ।

औषधस्य शरीरस्य ते भवन्ति विकल्पकाः ॥ ८ ॥

(विकल्पका इति विरुद्धकार्य्यजनकाः ॥)

यदि ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत की ऋतुओं में गरमी, वर्षा तथा शीत अधिक हों तो ओषधि तथा शरीर के लिये ये विपरीत कार्य करने वाली होती हैं ॥ ८ ॥

उपयुक्तकालमाह—

प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः ।

फाल्गुनश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति ।

सुस्थवृत्तिमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥ ९ ॥

संशोधन कर्म के लिये प्रावृट् यानी आषाढ़ और श्रावण, शरत् यानी कार्तिक और अगहन तथा वसन्त यानी फाल्गुन और चैत्र अच्छे समय हैं। यह स्वस्थवृत्त विषयक है। व्याधि की अवस्था में आवश्यक होने पर अन्य समय में भी संशोधन कराना चाहिये ॥९॥

सम्यग्वमितलक्षणम्—

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः ।

हृत्पार्श्वमूर्द्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तनोर्लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे ॥१०॥

क्रम से पहले कफ, फिर पित्त, फिर वायु निकलें तथा हृदय, पसवाड़े, सिर, इन्द्रियाँ तथा शरीर के मुख आदि स्रोत शुद्ध हो जायँ तथा शरीर हलका मालूम हो तो जानना कि वमन का योग ठीक ठीक लगा है, अन्यथा नहीं ॥ १० ॥

वमनगुणाः—

कफप्रसेक-स्वरभेद-तन्द्रा-निद्रास्य-दौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः ।

गुरुत्वकासग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित् ॥११॥

मुख से कफ का गिरना, स्वरभेद, तन्द्रा, निद्रा, मुख की बदबू, आमविष अथवा खाया हुआ विष का उपद्रव, शरीर का भारीपन,

खाँसी, ग्रहणी दोष, ये सब ठीक रीति से वमन करने पर नहीं रहते याने सम्यक् प्रकार से वमन करने पर ये सब दोष दूर हो जाते हैं ॥ ११ ॥

असम्यग्वमिते दोषमाह—

दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डू-हृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च ॥१२॥

यदि वमन ठीक ठीक न हो या पूरा न हो तो फोड़ा, कोठे, खुजली तथा इन्द्रियों की अशुद्धि और शरीर का भारीपन, ये दोष उठ खड़े होते हैं ॥ १२ ॥

अतिवमिते दोषमाह—

तृण्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्रा बलातिहानिं वमितेऽति विद्यात् ॥

यदि वमन का अतियोग हो जाय तो तृष्णा, मोह, मूर्च्छा, वायु का कोप, निन्द न आना तथा बल का अधिक क्षय होना, ये दोष होते हैं ॥

क्रियाकालमाह—

सुस्थवृत्तिमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधीवशेन तु ।
कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम् ॥
प्रयोजयेत् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥१४॥

शरीर की सुस्थता पर ध्यान रख कर व्यधि में उस समय के ऋतु अनुसार यथायथ शीत, उष्ण तथा वर्षा का प्रतीकार कर वमनादि क्रियाओं का प्रयोग करे तथा कार्य कालको न जाने दे। याने व्याधि के जिस अवस्था में इनका प्रयोग होना चाहिये, ठीक उसी समय ही प्रयोग करे; उसका उल्लंघन न करे ॥ १४ ॥

वमनभेषजमात्रामाह—

काथ्यद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वा जलाढके ।
चतुर्भागावशिष्टन्तु वमनेष्ववचारयेत् ॥ १५ ॥

एक कुडव क्वाथ करने की दवाएँ लेकर एक आढ़क जल में औटावे। चौथाई शेष रहने पर उतार छान कर पिलावे। यह विधि वमन की है ॥ १५ ॥

काथ्यद्रव्यपले वारि प्रस्थार्द्धं पादशेषितम्।
कर्षं प्रदाय कल्कस्य मधुसैन्धवयोस्तथा ॥ १६ ॥

काढ़े की दवाएँ एक पल लेकर आधा प्रस्थ जलमें सिद्ध करे और चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान लेवे फिर शहदतथा सेंधा नोन प्रत्येक एक तोला भर मिलाकर गुनगुना ही वमन के लिये पिला देवे ॥ १६ ॥

वमने मधुन उष्णस्य प्रयोगः—

सुखोष्णं वितरेद्वान्तौ मधूष्णं स्यान्न दोषकृत्।
प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न विरुध्यते ॥ १७ ॥
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्त्तयेत्।
यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम् ॥ १८ ॥
गुणोत्कर्षात् तु यात्यूर्द्धमपक्कं वमनं पुनः ॥ १९ ॥
(तयोरिति वमनविरेकयोः पक्वापक्वयोरित्यन्वयः ॥)

शहद यहाँ उष्ण होने पर भी दोषकारक नहीं होता, क्योंकि शहद उष्ण होने पर भी वमन और निरूहण में विपरीत गुण नहीं करता। विरेचन की दवा पचता हुआ, अपक्व तथा पके हुए दोषों को लेकर नीचे के मार्ग से बाहर चला जाता है; पर वमन की दवा अपने गुण के उत्कर्ष से अपक्व ही दोषों को लेकर मुख के रास्ते बाहर निकल आता है। इसलिये वमन-विरेचमें दवा का पाक न होने के कारण शहद गरम-गरम पिलाने पर भी दोषकारक नहीं होता ॥ १७-१९ ॥

वमननिषेधमाह—

न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितान् ।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धानर्शोऽर्दिताक्षेपकपीडितांश्च ॥ २० ॥
रूक्षे प्रमेहे तरुणे च गर्भे गच्छत्यथोर्द्ध्वं रुधिरे च तीव्रे ।
दुष्टे च कोष्ठे क्रिमिभिर्मनुष्यं न वामयेद्वर्चसि चातिबद्धे ॥

तिमिर, गुल्म, पाण्डु तथा उदर रोग से पीड़ित, मोटे आदमी, क्षतक्षीण, पतले आदमी तथा अति बूढ़े आदमी, बवासीर, अर्दित वात तथा आक्षेपक से ग्रस्त मनुष्य, रूखा, प्रमेहयुक्त, बालक, गर्भवती, उद्र्ध्वग रक्तपित्त से पीड़ित, कृमिकोष्ठ तथा अत्यधिक मलबद्धता युक्त पुरुषों को वमन न करावे ॥ २०–२१ ॥

निषेधेऽपि वम्याः—

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वम्या ये च विषातुराः ।
अत्युल्वणकफा ये च ते च स्युर्मधुकाम्बुना ॥ २२ ॥

ये निषिद्ध रोगी भी यदि अजीर्ण से पीडित हों, विष से ग्रस्त हों अथवा कफ अधिक बढ़ गया हो तो मुलेठी के काढ़े में यथायुक्त वमन की दवा मिलाकर वमन करावे ॥ २२ ॥

मन्दाग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता ।
सोत्क्लेशश्चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः ॥ २३ ॥

अग्नि मन्द हो तथा पीड़ा भी मन्द हो, पेट भारी हो और मल का स्तम्भन हो गया हो, जी में मचलाहट हो तथा अरुचि हो तो ऐसी अवस्था वाला गुल्मरोगी वमन कराने के योग्य है ॥ २३ ॥

अन्यच्च—

शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम् ।
वमनं रेचनञ्चैव कारयेत् कुशलो भिषक् ॥ २४ ॥

बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम् ।
तथा वमनसात्म्यञ्च धीरचित्तञ्च वामयेत् ॥ २५ ॥

शरद् ऋतु, वसन्त और वर्षा काल में मनुष्यों को कुशल वैद्य वमन और विरेचन करावे । बलवान्, कफपूर्ण शरीर वाला, जिसका जी मचलाता हो, जिसको वमन अनुकूल हो तथा जिनका चित्त शान्त हो, उन्हें ही वमन करावे ॥ २४–२५ ॥

वम्याः—

विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देऽग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे ।
विसर्पकुष्ठहृद्रोग—मेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥ २६ ॥
विदारिकापची–कास–श्वास–पीनसवृद्धिषु ।
अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥ २७ ॥
नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावेऽधिजिह्वके ।
गलगण्डेऽतीसारे च पित्तश्लेष्मगदे तथा ।
मेदोगदेऽरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक् ॥ १८ ॥

विषदोष, स्तन्यरोग, मन्दाग्नि, फीलपाँव, अर्बुद, विसर्प, कोढ़, हृदयरोग, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रमरोग, विदारिका, अपची, कास, श्वास, पीनस, अन्त्रवृद्धि, अपस्मार, ज्वर, उन्माद, रक्तातीसार, नाक का पकना, तालुपाक, ओंठ का पाक, कर्णस्राव, अधिजिह्वा, गलगण्ड, अतिसार, पित्तरोग, कफरोग, मेदोरोग तथा अरुचि, इन रोगों के होने पर ऊपर कहे नियमों को ध्यान में रखते हुए वैद्य वमन करावे ॥

अवम्याः—

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः ।
नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षतातुरः ॥ २९ ॥
मदार्त्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः ।

उदावर्त्तोर्द्ध्वरक्ती च दुश्छर्द्यः केवलानिला ॥
पाण्डुरोगी क्रिमिव्याप्तः पठनात् स्वरघातकः ॥ ३० ॥

तिमिररोगी, गुल्मरोगी, उदररोगी, पतला आदमी, अतिवृद्ध, गर्भिणी, मोटा आदमी, क्षतरोगी, मदात्यय रोगी, बालक, रूखा शरीरवाला, जिसने निरूह बस्ति ली हो, उदावर्त्त रोगी, उर्द्धग रक्तपित्त वाला, जिसे अति कठिनता से वमन आते हों, जिसका केवल वायु ही कुपित हो गया हो, पाण्डुरोगी, क्रिमिरोगी तथा जिसका स्वर अधिक ऊँचे स्वर से पढ़ने से बिगड़ गया हो, इन रोगियों को वमन न करावे ॥ २९–३० ॥

विशेषावस्थायां वम्यः—

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वम्या ये विषपीडिताः ।
कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुकाथस्य पानतः ॥ ३१ ॥

ऊपर कही अवस्था होने पर भी यदि रोगी अजीर्ण, विष अथवा प्रबल कफ से पीड़ित हो तो उसे मुलेठी के काढ़े से वमन कराना चाहिये ॥ ३१ ॥

ग्रन्थान्तरस्यान्यां रसमात्रामाह—

काथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्त्तिता ।
मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥३२॥

रस क्राथ की मात्रा उत्तमा नौ प्रस्थ, मध्यमा छः प्रस्थ तथा हीन मात्रा तीन प्रस्थ की है (यहां प्रस्थ १३॥ पल का है। अगला श्लोक ५२ देखो।) ॥ ३२ ॥

प्रसङ्गादन्यौषधानाञ्च मात्रामाह—

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपलं श्रेष्ठमात्रया ।
मध्यमं द्विपलं दद्यात् कनीयस्कं पलं भवेत् ॥ ३३ ॥

कल्क, चूर्ण और अवलेह जो वमन के लिये प्रयुक्त होते हैं, उनकी उत्तम मात्रा तीन पल, मध्यम दो पल तथा हीन मात्रा एक पल है ॥ ३३ ॥

वेगाः—

वमने चापि वेगाः स्युरष्टौ पित्तान्ता उत्तमाः ।
षड्वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारोऽप्यवरा मताः ॥ ३४ ॥

यदि वमन में आठ वेग आवें यानी आठ बार वमन हो और आठवें बार पित्त निकले, तो उत्तम वमन हुआ समझे। यदि छः वेग में ही पित्त निकल पड़े तो मध्यम तथा चार ही वेग में पित्त आ जाने से हीन वेग समझे ॥ ३४ ॥

कफं कटुकतीक्ष्णोष्णैः पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत् ।
सुस्वादुलवणोष्णैश्च संसृष्टं वायुना कफम् ॥ ३५ ॥

कफ दोष को कटु, तीक्ष्ण और गरम दवा, पित्त को मीठी तथा ठण्डी दवा से और वात से संयुक्त कफ को सुस्वादु, नमकीन और गरम दवाओं के द्वारा वमन करावे ॥ ३५ ॥

अथ विरेचनम्

शार्ङ्गधरः—

स्निग्धस्विन्नस्य वान्तस्य दद्यात् सम्यक् विरेचनम् ॥ ३६ ॥

जिसने स्नेह तथा स्वेद कराने के पश्चात् वमन किया हो, उसे विधियुक्त विरेचन करावे ॥ ३६ ॥

अस्य गुणमाह सुश्रुतः—

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनातिदीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वपुषः करोति विरेचनं सम्यगुपास्यमानम् ॥३७॥

सुश्रुत कहते हैं कि यदि विरेचन कर्म ठीक तरह से किया जाय,

तो बुद्धि प्रसन्न हो जाती है, इन्द्रिय बलवान् होते हैं, धातुएं स्थिर हो जाती हैं यानी अधिक समय तक टिकने वाली हो जाती हैं, जठराग्नि अधिक तेज हो जाती है, तथा शरीर की जीर्णावस्था भी देर से आती है यानी बुढ़ापा जल्दी नहीं आती ॥ २७ ॥

अवान्तस्य विरेचननिषेधः—

अवान्तस्य त्वधःस्रस्तो ग्रहणीं छादयेत् कफः ।
मदाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम् ॥३८॥

यदि बिना वमन कराये ही विरेचन दवा दी जाय, तो उसके नीचे ले जाने वाले प्रभाव से कफ अपने स्थान-आमाशय से खिसक कर ग्रहणी नाम की पित्तधरा कला को ढक लेता है, जिससे मन्दाग्नि तथा शरीर में भारीपन हो जाता है अथवा प्रवाहिका रोग हो जाता है। इस कारण वमन के बाद ही विरेचन देवे ॥ ३८ ॥

अवान्तस्य विरेकविधिः—

अथवा पाचनैरामं बलासञ्च विपाचयेत् ।
स्निग्धस्य स्नेहनैः कार्य्यं स्वेदैः स्विन्नस्य रेचनम् ॥३९॥

यदि रोगी वमन के अयोग्य होवे, तो पाचन दवा देकर आम और कफ को पहले पचा डाले, फिर जिसका शरीर स्नेहकर्म से चिकना हो गया हो तथा स्वेद से जिसके मल आदि फूल गये हों, उसे वरेचन दवा देनी चाहिये ॥ ३९ ॥

शरदृतौ वसन्ते च देहशुद्ध्यै विशेषतः ॥४०॥

शरद् और वसन्त ऋतुओं में खास कर देह की शुद्धि के लिये विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४० ॥

विरेकनिषेधमाह—

बालवृद्धावतिस्निग्धः क्षतक्षीणो भयार्दितः ।
श्रान्तस्तृषार्त्तः स्थूलश्च गर्भिणी च नवज्वरी ॥४१॥

नवप्रसूता नारी च मन्दाग्निश्च मदात्ययी।
शल्यार्दितश्च रुक्षश्च न विरेच्यो भिषग्वरैः ॥४२॥

बालक, वृद्ध, जिसने अधिक स्नेह पान कर लिया हो, क्षतक्षीण, डरा हुआ, थका हुआ, प्यासा, मोटा आदमी, गर्भिणी, नवीनज्वर वाला, जो स्त्री हाल ही में बच्चा पैदा की हो, मन्दाग्निवाला, मदात्यय रोग वाला, शल्य पीड़ित तथा रूक्ष शरीर वाले को उत्तम वैद्य विरेचन कभी न दे ॥ ४१-४२ ॥

विरेच्यानाह—

जीर्णज्वरी गरव्याप्तो वातरक्ती भगन्दरी।
अर्शःपाण्डूदरग्रन्थि-हृद्रोगाऽरुचिपीडिताः ॥४३॥
योनिरोगप्रमेहार्त्त-गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः।
विद्रधिच्छर्दिविस्फोट-विसूचीकुष्ठसंयुताः ॥४४॥
कर्णनासाशिरोवक्त्र-गुदमेढ्रामयार्दिताः।
प्लीहशोथाक्षिरोगार्त्ताः क्रिमिरोगानिलार्दिताः ॥
शूलिनो मूत्राघातार्त्ता विरेकार्हा नरा मताः ॥४५॥

जीर्ण ज्वर वाला, गरपीड़ित, वातरक्तवाला, भगन्दर रोगी, बवासीर, पाण्डु, उदर रोग, ग्रन्थि, हृद्रोग तथा अरुचि से पीडित, योनि रोग वाली, प्रमेह पीड़ित, गुल्म, तिल्ली और व्रण पीड़ित, विद्रधि, वमन, विस्फोट, विसूची तथा कोढ़ से व्याप्त रोगी, जिसे कान, नाक, सिर, मुख, गुदा तथा लिङ्ग के रोग हों, प्लीहा, शोथ और नेत्र रोग वाले, क्रिमि, क्षार तथा वायु जन्य रोग से पीड़ित, शूल रोगी तथा मूत्राघात रोगी, ये सब विरेचन कराने के लिये उपयुक्त हैं ॥ ४३-४५ ॥

कोष्ठानाह—

बहुपित्तो मृदुः प्रोक्तो बहुश्लेष्मा च मध्यमः।

बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते ॥ ४६ ॥

अधिक पित्त वाला मृदु कोष्ठ, अधिक कफ वाला मध्यम कोष्ठ तथा अधिक वायु वाला क्रूर कोष्ठ कहलाता है। क्रूर कोठे वाले को दस्त मुश्किल से कराये जाते हैं ॥ ४६ ॥

तस्य मात्रामाह—

मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तकम् ।
वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगकैः ॥ ४७ ॥

जुलाव लेने पर यदि तीस दस्त हों और कफ गिरे तो उत्तम, बीस हों तो मध्यम और दस हों तो हीन विरेचन जाने। यह दस्त की मात्रा है ॥ ४७ ॥

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमञ्च पलं भवेत् ।
पलार्द्धञ्च कषायाणां कनीयस्कं विरेचनम् ॥ ४ ॥

विरेचन दवा के कषाय की मात्रा उत्तम दो पल, मध्यम एक पल और निकृष्ट आधा पल की है ॥ ४८ ॥

आनन्दसेनस्त्वाह—

पित्तेन स्यान्मृदुः कोष्ठः क्रूरो वातकफाश्रयात् ।
मध्यमः समदोषः स्यात् मात्रा योज्यानुरूपतः ॥४९॥
पलन्तु श्रेष्ठमाख्यातं मध्यन्त्वर्द्धपलं भवेत् ।
कर्षमानं कनीयः स्यात् ज्ञेयं श्रेष्ठाद्यपेक्षया ॥ ५० ॥

आनन्द सेन कहते हैं, कि अधिक पित्त होने से मृदु कोष्ठ, वातकफ के अधिक होने से क्रूर कोष्ठ तथा समदोष युक्त होने से मध्यम कोष्ठ होता है। उसके अनुसार दवा की भी उत्तम, मध्यम तथा हीन मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। उत्तम मात्रा एक पल, मध्यम अर्ध पल तथा हीन मात्रा एक कर्ष की है। इन मात्राओं का प्रयोग कोठों की मृदुता आदि का विचार कर करे ॥ ४९-५० ॥

वमनविरेकयोश्चतुर्द्धा विशुद्धिमाह—

वैनिकी माणिका चापि अम्भकी नलिकी तथा ।
चतुर्विधा शुद्धिरुक्ता वमने च विरेचने ॥ ५१ ॥

वैनिकी, माणिका, अम्भकी तथा नालिकी ये चार प्रकार की शुद्धि वमन तथा विरेचन से होने की कही गई * ॥ ५१ ॥

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणाश्च ॥५२॥

वमन में जघन्य, मध्य तथा श्रेष्ठ शुद्धि में वेग की संख्या क्रम से चार, छः तथा आठ जाने । विरेचन में इसी क्रम से वेगों की संख्या दस, बीस और तीस जाने । यदि इन संख्याओं के अनुसार वेग न होकर ही पित्त और कफ निकलें, तो मान से जाने । विरेचन में यदि दो प्रस्थ, तीन प्रस्थ तथा चार प्रस्थ मल निकलने के बाद कफ निकले, तो भी उसी क्रम से जघन्यादि शुद्धि जाने ॥ ५२ ॥

वमन विरेचनयोः प्रस्थमानम्—

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥

---

* यह अशुद्ध है । यहाँ पाठ ऐसा होना चाहिये 'वैगिकी मानिकी चापि आन्तिकी लैङ्गिकी तथा' यानी शुद्धि चार प्रकार की होती है—(१) वैगिनी जो वेगों की संख्या से हो जैसे वमन में चार, छः तथा आठ वेग में जघन्य मध्य और श्रेष्ठ शुद्धि । (२) मानिकी जो मान से हो, जैसे दो, तीन और चार प्रस्थ विरेचन जघन्यादि शुद्धि कही है । (३) आन्तिकी–जैसे पित्तान्त वमन और कफान्त विरेचन । (४) लैङ्गिकी—जो लिंग यानी लक्षणों से जाना जाय, जैसे वमन में हृदय आदि की शुद्धि, शरीर का हलकापन आदि से शुद्धि हुई जानना । इसका विशेष विस्तार चरक सिद्धिस्थान की टीका में देखिये ।

वमन, विरेचन तथा शोणित मोक्षण में प्रस्थ का मान साढ़े तेरह पल का होता है, यह विद्वानों का मत है ॥ ५३ ॥

पित्तान्तमिष्टं वमनं कफान्तश्च विरेचनम् ॥ ५४ ॥

वमन पित्त निकलते तक और विरेचन कफ निकलते तक ही करावे । आगे करने पर अतियोग होगा ॥ ५४ ॥

विरेकमाह—

द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान् गेयं विरेके वमने तु पीतम् ॥

विरेचन में पहले दो तीन मल वाले दस्त को छोड़ कर गिनती करे तथा वमन में पी हुई औषधि जो पहिले निकल आती है, उसे छोड़ कर वेगों को गिने ॥ ५५ ॥

सम्यग्विरेचनगुणाः—

स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ लघुत्वमूर्ज्जोऽग्निरनामयत्वम् ।
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरक्तस्य भवेत् क्रमेण ॥

ठीक ठीक विरेचन होने पर शरीर के सब स्रोत शुद्ध हो जाते हैं, इन्द्रियाँ प्रसन्न, शरीर हलका, अग्नि तेज तथा शरीर स्वस्थ हो जाता है और मल, पित्त, कफ और वायु, इनकी प्रवृत्ति ठीक ठीक होने लगती है ॥ ५६ ॥

दुर्विरिक्ते दोषाः—

स्याच्छ्लेष्मपित्तानिलसंप्रकोपः सादस्तथाग्नेर्गुरुता प्रतिश्या ।
तन्द्रा तथा छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते ॥५७॥

ठीक ठीक विरेचन न होने पर कफ, पित्त और वात कुपित हो जाते हैं, अग्नि मन्द पड़ जाती है, शरीर भारी हो जाता है, जुकाम हो जाता है, तन्द्रा, वमन और अरुचि हो जाते हैं तथा वायु का अनुलोमन नहीं होता ॥ ५७ ॥

अतिविरेचनदोषाः—

कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः ।
निद्राबलाभावतमःप्रवेशाः सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति ॥

अत्यधिक विरेचन होने से यानी जुलाब के अधिक लग जाने से कफ, रक्त तथा पित्त के क्षय होने से होने वाले रोग, अवसाद, अङ्गमर्द, थकावट, कम्प, निंद न आना, कमजोरी, अंधेरा दीखना, पागलपन और हिक्की के रोग हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

विरेकनिषेधमाह—

क्षीणः क्षतोरः क्षतबालवृद्धा
दीनोऽथ शोषी भयशोकतप्तः
श्रान्तस्तृषार्त्तोऽपरिजीर्णभक्तो
गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक् ॥ ५९ ॥
नवप्रतिश्यायपरीतदेहो नवज्वरी या च नवप्रसूता ।
कषायनिष्ठा न विरेचनीयाः स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च ॥६०॥

क्षीण, क्षत रोगी, उरःक्षत वाला, बालक, बूढ़ा, दीन, शोषरोगी, भयभीत, शोकसंतप्त, थका हुआ, प्यासा, अजीर्ण पर खाने वाला, गर्भिणी, अधोग रक्तपित्त वाला, नवीन जुकाम वाला, नवीन ज्वर वाला, हाल की प्रसूता स्त्री, हमेशा कसैलेप दार्थों को खाने वाला तथा जिनका स्नेह, स्वेद और वमन कर्म न हुआ हो, ये सब विरेचन के अयोग्य है ॥ ५९-६० ॥

विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः ।
अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान् विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम् ॥६१॥

विरेचन के अयोग्य मनुष्य मूर्ख वैद्य के दिये हुए जुलाब से नाश को प्राप्त होते हैं, इससे चतुर वैद्यों से ही जुलाब लेवे । यदि

अयोग्य पुरुषों का भी शरीर पित्त से अत्यन्त व्याप्त हो, तो उसे हल्के दवाओं से थोड़ा थोड़ा करके दस्त लाना चाहिये ॥ ६१ ॥

अथ नस्यविधिः

नस्यभेदमाह—

नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥ ६२ ॥

नस्य के दो भेद हैं—रेचन और स्नेहन। रेचन नस्य कफादि दोषों को क्षय करता है और स्नेहन नस्य धातु आदि की पुष्टि करता है ॥ ६२ ॥

नस्यं तत् कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम् ।
नावनं नस्तकर्मेति तस्य नाम द्वयं मतम् ॥ ६३ ॥

जो दवा नाक से ली जाती है उसे नस्य कहते हैं। नावन और नस्यकर्म ये उसके दो नाम हैं ॥ ६३ ॥

कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वे मध्येऽपराह्णिके।
दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥ ६४ ॥

कफ के कोप में सुबह, पित्त के कोप में दो पहर तथा वात के कोप में अपराह्न को नस्य लिया जाता है; पर यदि रोग कठिन और शीघ्रकारी हो तो रात को भी दिया जाता है ॥ ६४ ॥

अन्यच्च—

प्रतिमर्षोऽवपीडश्च नस्यं प्रधमनं तथा।
शिरोविरेचनञ्चैव नस्तकर्म्म तु पञ्चधा ॥ ६५ ॥

प्रतिमर्ष, अवपीड, नस्य, प्रधमन और शिरोविरेचन ये नस्य के पाँच भेद हैं ॥ ६५ ॥

ईषदुच्छिङ्घनात् स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते।
नस्तो निषिक्तस्तं विद्यात् प्रतिमर्षं प्रमाणतः।

प्रतिमर्षश्च नस्यार्थं करोति न च दोषवान् ॥ ६६ ॥

प्रतिमर्ष नस्य नाक में डाल कर थोड़ा सा सुड़कने से दवा मुख मे चली आती है। यही इसकी मात्रा का प्रमाण है। इस प्रमाण से लिया गया प्रतिमर्ष नस्य कोई दोष नहीं करता ॥ ६६ ॥

शोधनः स्तम्भनस्तस्मादवपीडो द्विधा मतः ।
आपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततः स्मृतः ॥ ६७ ॥

अवपीड़ के भी स्तम्भन और शोधन ये दो भेद हैं। गीली दवा के कल्क से निचोड़ कर यह नस्य दिया जाता है, इसलिये इसे अवपीड़ कहते हैं ॥ ६७ ॥

स्नेहार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां तथा ।
बलार्थं दीयते स्नेहो नस्तः सर्वत्र वर्त्तते ॥ ६८ ॥

रूखे मस्तिष्क को स्निग्ध करने के लिये तथा गर्दन, कन्धे और छाती का बल बढ़ाने के लिये जो स्नेह प्रयोग नाक के द्वारा होता है, उसे नस्य कहते हैं ॥ ६८ ॥

अन्यच्च—

अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ।
शिरोविरेचनस्यार्थे तौ तु देयौ यथायथम् ॥ ६९ ॥

अवपीड़ और प्रधमन, ये दो भेद इसके और है। इन्हें शिरोविरेचन के लिये ही उचित मात्रा में प्रयोग करे ॥ ६९ ॥

अवपीडः—

कल्कीकृतादौषधाद् यः पीडितो निःस्रतो रसः ।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टः तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥ ७० ॥

तीक्ष्ण पदार्थों की लुगदी को दबाकर निचोड़ने से निकला हुआ जो रस नस्य के काम में प्रयुक्त होता है, उसे अवपीड़ कहते हैं ॥७०॥

प्रधमनम्—

षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत्।
तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं स्मृतम् ॥ ७१ ॥

छः अङ्गुल लम्बी और दोनों ओर पर खुली ऐसी नली में एक कोल भर तीक्ष्ण चूर्ण भर कर उसे मुख की हवा के द्वारा फूंककर नाक के भीतर जो नस्य दिया जाता है, उसे 'प्रधमन' कहते हैं ॥७१॥

विरेचनस्य प्रयोगः—

उद्र्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे च स्वरक्षये।
अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे।
शोथापस्मारकुष्ठेषु नस्यं वैरेचनं हितम् ॥ ७२ ॥

हंसुली से ऊपर के अङ्ग के रोग, कफ की बिमारियों में, स्वर के मंद पड़ जाने में, अरुचि में, जुकाम में शिरःशूल में, पीनस में, सूजन, अपस्मार तथा कुष्ठ के रोगों में यह शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग हितकर होता है ॥ ७२ ॥

स्नेहनस्य योग्याः—

भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन शस्यते ॥ ७३ ॥

जल्दी घबराने वाला, स्त्री, कृश तथा बालक के लिये स्नेहन नस्य उत्तम है ॥ ७३ ॥

अवपीडप्रयोगः—

गलरोगे सन्निपाते निद्रायां सविषे ज्वरे।
मनोविकारे क्रिमिषु युज्यते चावपीडनम् ॥ ७४ ॥

गले के रोग, सन्निपात, नीन्द की हालत, विष से उत्पन्न ज्वर, मन की विकृति तथा कृमिरोग (सिर के) में अवपीड देवे ॥ ७४ ॥

प्रधमनप्रयोगः—

अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते।

चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः ॥ ७५ ॥

जब दोष अत्यधिक बढ़कर कुपित हुए हों अथवा बेहोशी की अवस्था हो यानी सन्निपात आदि में जब रोगी बेहोश पड़ा रहता है, उस समय यह प्रधमन नस्य दिया जाता है। यह अधिक तीक्ष्ण होता है, इससे लाभ शीघ्र ही होता है। इसे अनुभवी धीर बुद्धि वाला ही प्रयोग करे ॥ ७५ ॥

नस्यमात्रा—

नस्यस्य स्नैहिकस्यात्र देयास्त्वष्टौ च बिन्दवः ।
प्रत्येकशो नस्तकर्म नृणामिति विनिश्चयः ॥ ७६ ॥

यहां स्नैहिक नस्य की मात्रा आठ बिन्दु जाने। यह उत्तम मात्रा है। प्रत्येक का यानी उत्तम, मध्यम तथा अवर पुरुषों का इसी क्रम से आठ, छः तथा चार बिन्दु मात्रा जाने। यही निश्चित मात्रा है ॥ ७६ ॥

नस्यप्रयोगावस्था—

अष्टवर्षस्य बालस्य नस्तकर्म समाचरेत् ।
अशीतिवर्षादूर्ध्वञ्च नावनं नैव दीयते ॥ ७७ ॥

आठ साल के बालक से नस्य देना शुरु करे और अस्सी वर्ष के ऊपर नस्य कर्म न करे यानी आठ से अस्सी वर्ष के बीच की उम्र वालों पर नस्य कर्म करे, इससे कम ज्यादा वालों पर नहीं ॥७७॥

निषेधमाह—

तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः ।
अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः ॥ ७८ ॥
क्रुद्धः शोकाभितप्तश्च तृषार्त्तो वृद्धबालकौ ।
वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

नया जुकाम वाला, गर्भिणी, विषदूषित, अजीर्ण पीड़ित, जिसने

बस्ति लिया हो, जिसने स्नेह, जल या आसव पीया हो, जिसने क्रोध किया हो, जो शोक सन्तप्त हो, जो प्यासा हो, बूढ़ा हो, बालक हो, जो मलमूत्र आदि के वेग को रोकता हो, जिसने स्नान किया हो, तथा जो स्नान करना चाहता हो, ऐसे लोगों को नस्य न देवे ॥७८–७९॥

इति नस्यम्।

अनुवासनमाह—

भवेत् सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम्।
विरिक्तस्त्वनुवास्यः स्यात् सप्तरात्रात्परं तदा ॥ ८० ॥

जुलाब के सात दिन बाद अनुवासन बस्ति देवे। इसे कुछ गरम रखने से ही शीघ्र और सुख से निकल आता है ॥ ८० ॥

अन्यत्र चोक्तम्—

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै।
कृताहाराय सायाह्ने बस्तिर्ज्ञेयोऽनुवासनः ॥ ८१ ॥

(अनुदिनं दीयते इत्यनुवासनः)

विरेचन के बाद जब सात रात बीत जायँ और शरीर में बल आजाय, तब सुबह भोजन कराकर सायंकाल अनुवासन बस्ति का प्रयोग करे। (इसे अनुदिन याने प्रतिदिन देते हैं, इसलिये इसे अनुवासन बस्ति कहते हैं ॥ ८१ ॥

नेत्रोपकरणानि—

सुवर्ण-रौप्य-त्रपु-ताम्र-रीति-कांस्यायसास्थिद्रुमवेणुदन्तैः।
नलैर्विषाणैर्मणिभिस्तु तैस्तैः कार्याणि नेत्राणि सुकर्णिकानि ॥८२॥

सोना, चाँदी, रांगा, ताम्र, पीतल, काँसी, लोहा, हड्डी, लकड़ी, बांस, दाँत, नल, सींग तथा मणि आदि से बस्ति देने के निमित्त अच्छी कर्णिका वाली नली बनावे ॥ ८२ ॥

नेत्रविधिः—

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसम्मितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् ।
स्युर्मुद्ग-कर्कन्धु-सतीनवाहि छिद्राणि वर्त्या पिहितानि चापि ।

छः, बारह और बीस वर्ष की उम्रवालों के लिये नेत्र भी क्रमशः छः, आठ और बारह अंगुल लम्बे बनावे तथा उनके छिद्र भी क्रमशः मूंग, मटर और बेर के निकल जाने जितनी बड़ी रखे और उनके मुखों को बत्तियों से बन्द रखे ॥ ८३ ॥

यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठकाभ्यां मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति ।
ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि ।
स्यात् कर्णिकैकाग्रचतुर्थभागे मूलाश्रिते बस्तिनिबन्धने द्वे ॥८४॥

जिस आदमी को बस्ति देनी है उसी के अंगूठे की जितनी मोटाई नली के मूल में होनी चाहिये तथा उतारते हुए अग्र पर कनअंगुली जितनी रखे । नलिका ठीक सीधी हों तथा उनका आकार गाय की पूंछ जैसी हो यानी मूल मोटा हो कर अग्रकी ओर उतरती जावे और अग्र पर गोल आकार की होवे । कर्णिका ठीक गोल और चिकनी होनी चाहिये । एक कर्णिका आगे की चौथाई भाग में हो । मूल में दो कर्णिका बस्ति को बांधने के लिये बनावे ॥८४–८५॥

बस्तिविधिः—

जरद्गवो माहिषहारिणौ वा स्यात् शौकरो बस्तिरजस्य वापि ।
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः ॥८६॥

वृद्ध बैल, भैंस, हरिण, सूअर अथवा बकरे की बस्ति यानी मूत्र रहने की थैली को भीतर की कला व मांस व नस आदि निकाल कर पतला कर लेवे फिर सुखाकर निर्गन्ध कर कषाय द्रव्य आदि से रंगाकर कमा लेवे जिससे वह कोमल हो जाय और साफ सुथरा

रहे। मनुष्य की उम्र के अनुसार बस्ति छोटी बड़ी यथायोग्य लेकर के नली के मूल की दो कर्णिकाओं के बीच मजबूत डोरे से कस कर बांध रखे॥ ८६॥

व्रणबस्तेर्नेत्रप्रमाणम्-

व्रणबस्तेस्तु नेत्रं स्यात् श्लक्ष्णमष्टाङ्गुलोन्मितम्।
मृदुच्छिद्रं गृध्रपक्ष-नलिकापरिणाहि च॥ ८७॥

व्रणबस्ति याने जो बस्ति फोड़े, पर, नासूर आदिमें से दिया जाता है, उस के लिये नली आठ अङ्गुल लंबी मृदु छेद वाली तथा गीधके पंख को नलिका जितनी बड़ी गोल होनी चाहिये॥ ८७॥

नेत्रद्रव्याणि—

नेत्रं कार्य्यं सुवर्णादि धातुभिर्वृक्षवेणुभिः।
नलैर्दन्तैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते॥ ८८॥

सुवर्ण आदि धातु से, लकड़ीसे, बांससे, नलसे, दाँतसे, सींग के अग्र भाग से अथवा मणियों से बस्ति देने की नली बनावे॥ ८८॥

नेत्रमानम्—

एकवर्षात्तु षड्वर्षं यावन्मात्रा षडङ्गुलम्।
ततो द्वादशकं यावत् मानं स्यादष्टसम्मितम्॥
ततः परं द्वादशभिरङ्गुलैर्नेत्रदीर्घता॥ ८९॥
मुद्गच्छिद्रं कलायाभं छिद्रं कोलास्थिरन्ध्रकम्।
यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसन्निभम्॥ ९०॥

एक वर्ष से छः वर्ष तक उम्र वालों के लिये छः अङ्गुल, छः से बारह वर्ष तक आठ अंगुल और उससे अधिक उम्रवालों के लिये बारह अंगुल लंबी बस्ति की नली बनावे। नली का छिद्र क्रमशः मूँग, मटर और बेर की गुठली जितनी बड़ी हो। नली चिकनी और गायके पूँछ जैसी ही होनी चाहिये॥ ८९-९०॥

आतुराङ्गुष्ठमानेन मूले स्थूलं विधीयते।
कनिष्ठिका परीणाहमग्रे च गुडिकामुखकम् ॥ ६१ ॥
तन्मूले कर्णिके द्वे च कार्य्ये भागाच्चतुर्थकात्।
योजयेत्तत्र बस्तिस्तु बन्धद्वयविधानतः ॥ ६२ ॥

नेत्र वाली नली रोगी का अँगुठा जितनी मोटी मूल में हो तथा उतर कर अग्र में कानी उँगली जितनी मोटी व गाय के पूँछ की भाँति उतरती बनावे। मूल में दो कर्णिका तथा अग्र भाग के चौथे भाग में एक कर्णिका बनावे और बस्ति को उन्हीं में लगाकर बन्धन से बांध देवे ॥ ९१–९२ ॥

ग्राह्यबस्तिः—

मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत्।
मूत्रकोषस्य बस्तिस्तु तदलाभेन चर्म्मजः।
कषायरक्तः सुमृदुर्बस्तिः स्निग्धो दृढो हितः ॥ ९३ ॥

मृग, बकरी, सूअर, गो अथवा भैंस के मूत्र की थैली का बस्ति बनावे। इनके न मिलने पर चमड़े की बनावे। बस्ति कमाया हुआ, रंगा हुआ कोमल, मजबूत और स्निग्ध होना चाहिये ॥ ९३ ॥

अन्यच्च, बस्तेः संज्ञा—

बस्तिस्तु क्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते।
बस्तिभिर्दीयते यस्मात् तस्माद्बस्तिरिति स्मृतः ॥६४॥

जब दूध और तेल आदि स्नेह पदार्थ के योग से दवा की बस्ति दी जाती है, तो उसे निरुहबस्ति कहते हैं॥

इस में दवा बस्ति के भीतर रख कर प्रयोग की जाती है, इसलिये इस प्रकार की क्रियाको भी बस्ति–क्रिया कहते हैं ॥ ९४ ॥

अनुवासनबस्तिः—

तत्रानुवासनाख्यो हि बस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते ।
पूर्वमेव ततो बस्तिर्निरूहाख्यो भविष्यति ॥
निरूहादुत्तरश्चैव बस्तिः स्यादुत्तराभिधः ॥ ९५ ॥

पहले यहां अनुवासन बस्ति को ही कहेंगे, फिर निरूह बस्ति और उसके वाद उत्तर बस्ति के विधान को कहेंगे ॥ ९५ ॥

अनुवासनभेदश्च मात्राबस्तिरुदीरितः ॥
पलद्वयं तस्य मात्रा तस्मादर्द्धोऽपि वा भवेत् ॥ ९६ ॥

अनुवासन बस्ति का एक भेद मात्रा बस्ति है । उसकी मात्रा दो पल अथवा उसकी भी आधी होती है ॥ ९६ ॥

अनुवास्याः—

अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिला ॥९७॥

जो पुरुष रूखा हो, जिसकी अग्नि अधिक तेज हो अथवा जिसका सिर्फ वात ही कुपित हो, ऐसे पुरुषों को अनुवासन बस्ति देवे ॥९७॥

नानुवास्याः—

नानुवास्यस्तु कुष्ठी स्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी ।
नास्थाप्या नानुवास्याः स्युरजीर्णोन्मादतृड्युताः ।
शोथमूर्च्छाऽरुचिभय-श्वासकासक्षयातुरः ॥ ९८ ॥

कोढ़ी, प्रमेहयुक्त, मेद से जो मोटा हो, गया हो, उदररोगवाला, ये अनुवासन के अयोग्य हैं । अजीर्ण, उन्माद, तृषा, शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, कास और क्षय इन रोगों से पीड़ित रोगियों को न अनुवासन बस्ति देवे और न आस्थापन बस्ति ही देवे ॥ ९८ ॥

बस्तेर्गुणाः—

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः ।
कुरुते परिवृद्धिञ्च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥ ९९ ॥

ठीक ठीक विधान से लिया बस्ति शरीर की पुष्टि, बल आरोग्य और उम्र की वृद्धि करता है ॥ ९९ ॥

स्नेहबस्तिदानसमयः—

दिवा शीते वसन्ते च स्नेहबस्तिः प्रदीयते ।
ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनः ॥ १०० ॥

शीत और वसन्त कालमें तथा दिन के समय स्नेह बस्ति दिया जाता है गरमी, वर्षा और शरद् ऋतुओं में रात को अनुवासन (स्नेह) बस्ति दिया जाता है ॥ १०० ॥

न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वानुवासयेत् ।
मदमूर्च्छाञ्च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥१०१॥

अधिक स्निग्ध भोजन खिलाकर अनुवासन का प्रयोग न करे; क्योकि इस दो तरह से याने भोजन तथा अनुवासन से प्रयुक्त हुआ स्नेह मदमूर्च्छा उत्पन्न करता है ॥ १०१ ॥

हीनातिरिक्तप्रयोगे दोषः—

हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्य्यकरौ स्मृतौ ।
अतिमात्रौ तथानाहक्लमातीसारकारकौ ॥
रूक्षं भुक्तवतोऽत्यन्तं बलं वर्णं च हीयते ॥ १०२ ॥

दोनों ही प्रकार के बस्ति यदि कम मात्रा में दिये जायँ, तो वे अपनी क्रिया नहीं कर सकते । यदि अधिक मात्रा में दिये जायँ तो आनाह, क्लम तथा अतिसार को करते हैं । यदि रूखा और भोजन किये हुए को दिया जायँ तो बल और वर्ण की अधिक हानि करते हैं ॥

अनुवासनमात्राः—

उत्तमस्य पलैः षड्भिः मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः ।
पलैकार्द्धेन हीना स्यादुक्ता मात्रानुवासने ॥ १०३ ॥

अनुवासन बस्ति की मात्रा उत्तम छः पल, मध्यम तीन पल और हीन डेढ़ पल की हैं ॥ १०३ ॥

अन्यच्च, निरूहमात्राः—

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरे परम् ।
प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत् षट्प्रसृतास्ततः ॥ १०४ ॥
प्रसृतं वर्द्धयेदूर्द्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु ।
आसप्ततेरिदं मानं दशैव प्रसृताः परम् ॥ १०५ ॥

निरूहबस्ति की मात्रा प्रथम वर्ष में एक पल देवे। फिर प्रति-वर्ष एक एक पल बढ़ाते जावे। इस प्रकार बारह वर्ष तक बढ़ा कर बारह पल तक मात्रा करे। फिर अठारह वर्ष की अवस्था तक प्रति वर्ष दो पल के हिसाब से बढ़ावे। इस तरह अठारह वर्ष वाले की मात्रा २४ पल हुई। फिर सत्तर वर्ष की उम्र त क यही मात्रा स्थिर रखे इसके उर्ध्व याने सत्तर वर्ष से अधिक उम्र वाले की मात्रा घटा कर दस प्रसृत याने २० पल की कर देवे ॥१०४-१०५॥

अनुवासनस्य मात्रादिः—

यथायथं निरूहस्य पादो मात्रानुवासने ।
सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्राप्नोति यस्य वै ॥ १०६ ॥
विना पीडां त्रियामस्थः स सम्यगनुवासितः ।
विष्टब्धानिलविण्मूत्रः स्नेहहीनेऽनुवासने ।
दाहक्लमपिपासार्त्ति-करश्चात्यनुवासने ॥ १०७ ॥

अनुवासन की मात्रा यथायोग्य निरूह की मात्रा से चौथाई रखे। जिसका अनुवासन ठीक ठीक हुआ हो, तो तीन पहर के अन्दर विना कोई तकलीफ के वायु और मल के साथ स्नेह निकल आता है। यदि अनुवासन में स्नेह की मात्रा कम हो, तो वात, मल और मूत्र का

अवरोध हो जाता है और अधिक अनुवासन से दाह, क्लम, प्यास और पीड़ा होती है ॥ १०६-१०७ ॥

बस्तेरतिशीलने दोषः—

स्नेहात्पित्तकफोत्क्लेदो निरूहात् पवनाद्भयम् ।
स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ॥ १०८ ॥

स्नेह बस्ति अथवा निरूह बस्ति, अधिक न ले या लेने का अभ्यास न करे; क्योंकि स्नेह बस्ति अधिक लेने से कफ और पित्त को बढ़ा देता है और निरूह बस्ति वायु को बढ़ाता है ॥ १०८ ॥

अननुवास्याः—

अनास्थाप्या येऽभिधेया नानुवास्याश्च ते मताः ।
विशेषतस्त्वमी-पाण्डु-कामला-मेहपीनसाः ॥ १०९ ॥
निरन्नप्लीहविड्भेदी गुरुकोष्ठकफोदराः ।
अभिष्यन्दभृशस्थूल-क्रिमिकोष्ठाढ्यमारुतः ॥
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान् ॥ ११० ॥

जो निरूह बस्ति के अयोग्य कहे गये हैं, वे अनुवासन के भी अयोग्य हैं, खासकर पाण्डु, कामला, मेह, पीनस, भूख से पीड़ित हो, प्लीहा, विड्भेद, भारी कोठेवाला, कफोदर, अभिष्यन्दी, कृश, स्थूल, कृमिकोष्ठ, उरुस्तम्भ, विषपिया, गरपिया, अपची, श्लीपद और गलगण्ड, इन रोगों से पीड़ित मनुष्य अनुवासन के लिये अयोग्य है ॥ १०९-११० ॥

अनास्थाप्याः—

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशं कृशः ।
आमातिसारी वमिवान् संशुद्धो दत्तनावनः ॥ १११ ॥
श्वासकासप्रसेकार्शो हिक्काध्मानाल्पवह्नयः ।

पायुशूलः कृताहारो बद्धच्छिद्रोदकोदरी ।
कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी ॥११२॥

अतिस्निग्ध, क्षत या शोल रोगी, अतिकृश, अमातिसार वाला, वमन रोगी, जुलाब लिया हुआ, नस्य लिया हुआ; श्वास, कास, मुखप्रसेक, बवासीर, हिचकी, अफारा, इन रोगों वाला, गुदशूलवाला, विष्ठाक्षय वाला, भोजन किया हुआ, बद्धोदर वाला, छिद्रोदर वाला, जलोदर वाला, कोढ़ी, मधुमेह वाला और सात महीने का गर्भ वाली स्त्री, ये अस्थापना यानी निरूह बस्ति के लिये अयोग्य हैं ॥१११-११२॥

विशेषनिर्देशः—

न चैकान्तेन निर्दिष्टे कुर्य्यादभिनिवेशनम् ।
भवेत् कदाचित् कार्य्यापि विरुद्धाऽभिमता क्रिया ॥ ११३ ॥
छर्दिहृद्रोगगुल्मार्त्तो वमनं स्वे चिकित्सते ।
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं बस्तिकर्म च योजयेत् ॥ ११४ ॥

यहाँ निषिद्ध निर्दिष्ट होने पर इसे एक दम से सब जगह निषिद्ध न मान बैठे ; क्योंकि कभी कभी विरुद्ध क्रिया भी फायदा पहुँचाने वाली होती है, यथा वमन, हृद्रोग और गुल्म रोग में वमन निषिद्ध होने पर भी तथा कुष्ठपर बस्तिकर्म निषिद्ध होने पर भी, उनके चिकित्सा-स्थान में मुख्य मुख्य अवस्था पर देने की विधि कही गई है । इसलिये जो कर्म साधारणतः निषिद्ध हो तो भी यदि किसी मुख्य अवस्था पर उनसे लाभ होता हो तो विचारपूर्वक उनका प्रयोग करे ॥ ११३-११४ ॥ इत्यनुवासनः ।

निरूहमाह—निरूहकालः—

अनुवास्य स्निग्धतरं तृतीयेऽह्नि निरूहयेत् ।
मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले ॥ ११५ ॥
अभ्यक्तं स्वेदितोत्सृष्टमलं नातिबुभुक्षितम् ।

तृतीयेऽह्नि प्रायोवादात् पञ्चमेऽप्यह्नि क्रियते ॥११६॥

अनुवासन से जब मनुष्य अच्छी तरह स्निग्ध हो जाय, तब तीसरे दिन निरूह बस्ति प्रदान करे। शरीर में तेल आदि की मालिश कर स्वेद करे, फिर मल आदि त्याग कर जो पुरुष अधिक भूखा न हो उससे मंगल कृत्य करा कर, बलि आदि देकर दोपहर कुछ निकल जाने के बाद निरूहण बस्ति प्रदान करे। अनुवासन के पश्चात् तीसरे दिन का निर्देश प्रायिक होने से पाँचवे दिन भी निरूहण कर सकते हैं ॥ ११५-११६ ॥

यदाह वाग्भटः—

पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे ॥ ११७ ॥

पाँचवे या तीसरे दिन शुभ क्षण में निरूह बस्ति देवे ॥११७॥

(निरूहयेदिति दोषं निर्हरेदित्यर्थः। अतएवाह सुश्रुतः। यथा—दोषहरणाच्छरीररोगहरणाद्वा निरूह इति । अस्थापनमित्यपि नाम। वयःस्थापनादायुस्थापनाद्वा आस्थापनमिति सुश्रुत एव ॥ ११८ ॥)

निरूहण करे याने दोषों को निकाले। सुश्रुत में कहा है-यह बस्ति दोषहरण या शरीर के रोगहरण करने के कारण 'निरूह' कहलाता है। इसका दूसरा नाम 'आस्थापन' भी है। 'वयःस्थापन' आयुस्थापन यानी उम्र की क्षय होने से रक्षा करने के कारण ही इसका नाम 'आस्थापन' भी है। यह सुश्रुत में कहा गया है ॥ ११८ ॥

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततः पक्षात् निरूहणम्।
सद्योनिरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥ ११९ ॥

वमन कराने के बाद पन्द्रह दिन पर विरेचन करावे। विरेचन के सात दिन बाद अनुवासन बस्ति देकर उससे सातवें दिन फिर निरूह बस्ति प्रदान करे ॥ ११९ ॥

मधुस्नेहनकल्काख्यः कषायावापतः क्रमात्।
त्रीणि षट् द्वे दश त्रीणि पलान्यनिलरोगिषु॥ १२०॥
पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपञ्च चतुष्टयम्।
षट्त्रीणि द्वे दश त्रीणि कफे चापि निरूहणम्॥१२१॥

निरूह बस्ति में प्रयुक्त होने वाले शहद, तेल आदि, कल्क, काढ़ा तथा आवाप (काँजी आदि) की मात्रा इस प्रकार है— वात रोगी को मधु तीन पल, तैल छः पल, कल्क दो पल, काढ़ा दस पल और आवाप तीन पल देवे। पित्त रोग में मधु चार पल, तैल चार पल, कल्क दो पल, कषाय दस पल और आवाप चार पल देवे। कफ रोग में मधु छः पल, तैल तीन पल, कल्क दो पल, काढ़ा दस पल और आवाप तीन पल देवे॥ १२०-१२१॥

शार्ङ्गधरमतमाह—

निरूहबस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरैः।
तैरेव तस्य नमानि कृतानि मुनिपुङ्गवैः॥ १२२॥

भिन्न भिन्न कारणों से निरूहबस्ति भी कई तरह का होता है, इसलिए श्रेष्ठ मुनियों ने उसका नाम भी कार्य के अनुसार ही भिन्न भिन्न रख दिया है॥ १२२॥

निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः।
स्वस्थानस्थापनाद्दोष-धातूनां स्थापनं मतम्॥ १२३॥

निरूह का दूसरा नाम आस्थापन भी पण्डितों ने कहा है; क्योंकि यह दोष और धातुओं को शुद्ध करके स्वस्वस्थानों में स्थापन करता है॥ १२३॥

निरूहस्य प्रमाणञ्च प्रस्थं पादोत्तरं परम्।
मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनञ्च कुडवास्त्रयः॥ १२४॥

निरूह बस्ति की मात्रा उत्तम सवा प्रस्थ, मध्यम एक प्रस्थ और हीन तीन कुडव यानी पौन प्रस्थ की होती है ॥ १२४ ॥

अतिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषः क्षतोरस्कः कृशस्तथा ।
आध्मानच्छर्दिहिक्कार्शः कासश्वासप्रपीडितः ॥१२५॥
गुदशोथातीसारार्त्तो विसूचीकुष्ठसंयुतः ।
गर्भिणी मधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी ॥ १२६ ॥

अतिस्निग्ध जिसके दोष उत्क्लिष्ट हों, उरः-क्षत वाला, कृश, अफारा युक्त, वमन, हिचकी, अर्श, खांसी, श्वास, गुदशोथ, अतिसार, विसूचिका और कुष्ठ से पीडित गर्भिणी, मधुमेही और जलोदर रोगी, ये आस्थापन के अयोग्य हैं ॥ १२५–१२६ ॥

वातव्याधावुदावर्त्ते वातासृग्विषमज्वरे ।
मूर्च्छातृष्णोदरानाह–मूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च ॥ १२७ ॥
वृद्ध्यसृग्दरमन्दाग्नि–प्रमेहेषु निरूहणम् ।
शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद्बुधः ॥ १२८ ॥

वातरोग, उदावर्त्त, वातरक्त, विषमज्वर, मूर्च्छा, तृष्णा, उदरानाह, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, अंडवृद्धि, प्रदर, मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल, अम्लपित्त और हृद्रोग, इन रोगों में चतुर वैद्य विधिपूर्वक निरूह बस्ति का प्रयोग करे ॥ १२७–१२८ ॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धं स्विन्नमभोजितम् ।
मध्याह्ने गृहमध्ये तु यथायोग्यं निरूहयेत् ॥ १२९ ॥

रोगी को वायु और मलमूत्र त्याग कराकर स्निग्ध करके पसीना देवे। फिर भोजन के समय खाने बिना रखे और दो पहर को घर के अन्दर यथायोग्य यानी उसे जैसी दवा चाहिये उसकी निरूह बस्ति देवे ॥ १२९ ॥

स्नेहबस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् ।
जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः ॥ १३० ॥
तिष्ठेन्मुहूर्त्तमात्रन्तु निरूहागमनेच्छया ।
अनायातं मुहूर्त्तान्ते निरूहं शोधनैर्हरेत् ।
निरूहैरेव मतिमान् क्षारमूत्राम्लसैन्धवैः ॥ १३१ ॥

स्नेह बस्ति में कही विधि के अनुसार ही निरूह बस्ति का प्रयोग करे। बस्ति दे चुकने पर बस्ति के निकल आने के निमित्त एक मुहूर्त्त पर्यन्त उत्कटासन से बैठे रहे। इतने समय में यदि निरूह बाहर न निकल आये, तो उसे क्षार, मूत्र, कांजी, सेन्धानमक प्रभृति शोधन द्रव्ययुक्त निरूह से ही निकाले ॥ १३०-१३१ ॥

सम्यङ्निरूहस्य लक्षणमाह, चिकित्सामृते यथा—

न धावत्यौषधं पाणिं न तिष्ठत्यवलिप्य च ।
न करोति च सीमन्तं स निरूहः सुयोजितः ॥ १३२ ॥

निरूह की दवा न हाथ से एकदम अलग हो जाती है और न छिहस ही जाती है और न उसमें तेल आदि की रेखा ही दीखती है। याने मधु, तेल, कल्क आदि इस तरह आपस में मिल जाते हैं कि फिर उनकी उपस्थिति उसमें नहीं दीख पड़ती। ऐसी ही दवा से निरूहण करना अच्छा होता है ॥ १३२ ॥

अत एवोक्तम्—

कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः ।
बस्तिस्तु कल्कितः प्रोक्तस्तस्यादानं तथार्थकृत् ॥१३३॥

कल्क, स्नेह, कषाय आदि जब अलग अलग न दीखाई दे—ठीक से मिल कर एक ही पदार्थ मालूम पड़े तो चतुर वैद्य उसका प्रयोग निरूह क्रिया में करे। ऐसी दवा का ही प्रयोग यथोक्त फल देता है ॥

पूर्वोक्तेन विधानेन गुदे बस्तिं निधापयेत् ।
त्रिंशन्मात्रास्थितो बस्तिस्ततस्तूत्कटको भवेत् ॥१३४॥
यावत् पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम् ।
निमेषोन्मेषकालो वा सा मात्रा परिकीर्त्तिता ॥१३५॥

पूर्व यानी अनुवासन में कही विधि से गुदा में बस्ति प्रदान करे फिर तीस मात्रा तक चुपचाप रहने के पश्चात् बस्ति के बाहर आने के निमित्त उत्कट आसन होवे। हाथ को दहिने घुटने पर रख कर जल्दी से उसके चारों ओर घुमा लाने से अथवा आँख के पलक को गिराने और उठाने में जितना समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। यह समय मृदुकोष्ठ या जिसे जल्दी दस्त आ जाते हों, उसके लिये कहा गया है ॥ १३४–१३५ ॥

जानुमण्डलमावेष्ट्य दत्तं दक्षिणपाणिना ।
कृष्टनेत्रच्छटाशब्दशतं तिष्ठेदवेगवान् ॥ १३६ ॥

जिसे जल्दी दस्त न आते हों या जिसका क्रूर कोष्ठ हो, उसे घुटने को मोड़ कर दाहिने हाथ में थमा बस्ति देवे फिर नलिका खींच लाकर उसी प्रकार बिना वेग के तुरहीं के सौ शब्द तक ठहरे, फिर उसके निकालने के लिये उत्कटासन पर बैठे ॥ १३६ ॥

द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्हतः ।
पुटं प्रदापयेद्वैद्यो बुद्ध्वा रोगबलाबलम् ॥
सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते बस्तिं निवारयेत् ॥१३७॥

रोग का बलाबल विचार कर दो तीन या चार बार या जिसे जितने बार उपयुक्त हो उसे उतना ही पुटक निरूह बस्ति प्रदान करे। जब ठीक २ निरूह लेने से होने वाले लक्षण स्पष्ट दीखने लगें तब देना बन्द करे ॥ १३७ ॥

सुनिरूढलक्षणम्—

नाभिप्रदेशञ्च कटिञ्च गत्वा कुक्षिं समालोड्य पुनश्च सृटः ।
संस्निह्य कायं सपुरीषदोषः सम्यक् सुखेनैति च यः स बस्तिः ॥

जो बस्ति नाभिस्थान तक तथा कमर में जाकर कोंख को उथला-पुथला कर शरीर को स्निग्धकरते हुए, मल और दोषको साथ लेकर सुखसे बाहर निकल आता है, वही उत्तम बस्ति है ॥ १३८ ॥

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि ।
वेगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलञ्च तत्स्यात्सुनिरूढलिङ्गम् ॥

ठीक तरह से निरूहण होने पर दस्त, पेशाब और वायु खुलासे निकलते हैं, रुचि होती है, अग्नि बढ़ती है, शरीर के सब आशय हलके हो जाते हैं, रोग आदि की शान्ति हो जाती है, शरीर स्वस्थ और बलवान् हो जाता है । यही इसके लक्षण हैं ॥ १३९ ॥

असम्यङ्निरूहलक्षणमाह—

स्याद् हृच्छिरोरुग्गुदकुक्षिलिङ्गे
शोथः प्रतिश्या परिकर्त्तिका च ।
हृल्लासिकामारुतमूत्रसङ्गः
श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्यात् ॥१४०॥

यदि निरूहण क्रिया ठीक २ न हुआ हो, तो हृदय और सिर में पीड़ा, गुदा, कोंख और लिंग में सूजन, जुकाम, परिकर्त्तिका, जीमचलाना, हवा और पेशाब का रुक जाना और श्वास रोग हो जाते हैं ॥

अयोगश्चातियोगश्च निरूहस्य विरेकवत् ॥ १४१ ॥

निरूह बस्ति के अयोग और अतियोग के लक्षण जुलाब के अयोग और अतियोग के ही समान जाने ॥ १४१ ॥

इति निरूहबस्तिविधिः ।

उत्तरबस्तिमाह, यदाह शार्ङ्गधरः—

अतःपरं प्रवक्ष्यामि बस्तिमुत्तरसंज्ञितम् ।
द्वादशाङ्गुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम् ॥
मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥ १४२ ॥

इस के आगे अब 'उत्तरबस्ति' की विधि कहेंगे। इस की नलिका बारह अङ्गुल लम्बी बीच में कर्णिका वाली, मालती के फूल के डण्ठल जितनी मोटी और सरसों निकल जावे-इतनी बड़ी छेद वाली बनावे ॥ १४२ ॥

तस्य मात्राः—

पञ्चविंशतिवर्षाणामधो मात्रा द्विकार्षिकी ।
तदूर्द्ध्वं पलमात्रा च स्नेहस्योक्ता भिषग्वरैः ॥ १४३ ॥

पच्चीस वर्ष से नीचे के उम्र वालों के लिये स्नेह की मात्रा दो कर्ष और इससे अधिक उम्र वालों के लिये एक पल है ॥ १४३ ॥

बस्तिविधिः—

अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः ।
स्थितस्य जानुमात्रेण पीठेऽन्विष्य शलाकया ॥ १४४ ॥
स्निग्धया मेढ्रमार्गेण ततो नेत्रं नियोजयेत् ।
शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं मेढ्ररन्ध्रेऽङ्गुलानि षट् ॥ १४५ ॥
ततोऽवपीडयेद्बस्तिं शनैर्नेत्रञ्च निर्हरेत् ।
ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः ॥ १४६ ॥

अस्थापन बस्ति से शुद्ध हुए पुरुष को स्नान आदि करा कर भोजन आदि से तृप्त कर, आसन आदि पर जानु के बल बैठावे। फिर घृत या तेल लगी सलाई से लिङ्ग के छिद्र का अन्वेषण करे और फिर धीरे २ घी से लिसा बस्ति नेत्र प्रवेश करे। जब नलिका छः अङ्गुल चला जाय, तब धीरे से बस्ति को दबावे और सब

दवा अन्दर चले जाने पर धीरे से खींच लावे । जब स्नेह बाहर निकल आवे तब बस्तिकर्म समाप्त समझे । फिर इसके बाद अनुवासन बस्ति के नियमानुसार पथ्यादि आचरण करे ॥ १४४-१४६ ॥

स्त्रीणां बस्तिविधिः—

स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद्दशाङ्गुलम् ।
मुद्गप्रवेश्यं योज्यञ्च योन्यन्तश्चतुरङ्गुलम् ॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत् ॥ १४७ ॥

स्त्रियों के लिये योनिमार्ग में देने की बस्ति की नलिका दस अङ्गुल लम्बी और छोटी अङ्गुली जितनी मोटी बनावे । उस में छिद्र मूंग निकल जावे जैसी बनावे । बस्ति देते समय इसे योनि मार्ग में चार अङ्गुल प्रवेश करे । मूत्र मार्ग में बस्ति देना हो, तो ऊपर कही उत्तर बस्ति की सूक्ष्म नलिका दो अङ्गुल भर प्रवेश करावे ॥

बालानां बस्तिविधिः—

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानामेकमङ्गुलम् ॥ १४८ ॥

मूत्रकृच्छ्र रोग होने पर बालकों को बस्ति एक अङ्गुल नेत्रप्रवेश कर के देवे ॥ १४८ ॥

स्त्रीणां बस्तिदानकालमाह वाग्भटः—

स्त्रीणामार्त्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतः ।
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ॥
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापदसृग्दरे ॥ १४९ ॥

स्त्रियों के आर्त्तव काल में ही बस्ति-प्रयोग करे क्योंकि इस समय योनिमार्ग खुला रहता है और योनि भी दवा को ग्रहण करती है, पर योनिभ्रंश, योनिशूल, योनिव्यापद्, प्रदर आदि तथा अन्यान्य कठिन रोगों में ऋतुकाल न होने पर भी जरूरत के अनुसार बस्ति का प्रयोग करे ॥ १४९ ॥

शनैर्निष्कम्पमावेयं सूक्ष्मं नेत्रं विचक्षणैः।
योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिका॥
मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानाञ्च द्विकार्षिकी॥ १५०॥

चतुर वैद्य निष्कम्प भाव से सूक्ष्म नेत्र स्त्रियों के योनिमार्ग में धीरे से प्रवेश कर के दो पल स्नेह की मात्रा गर्भाशय की शुद्धि के लिये प्रयोग करे। मूत्रमार्ग में एक पल स्नेह तथा बालाओं को दो कर्ष स्नेह की मात्रा देवें॥ १५०॥

स्त्रीणां बस्तिदानविधिः—

उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः।
अप्रत्यागच्छति भिषग्बस्तावुत्तरसंज्ञिते।
भूयोबस्तिर्विधातव्यः संयुक्तैः शोधनैर्गणैः॥ १५१॥
फलवर्त्ति निदध्याद् वा योनिमार्गे दृढां भिषक्।
सूत्रैर्विनिर्म्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम्॥१५२॥

स्त्रियों को चित्त लिटा कर दोनों घुटनों को ऊपर की ओर मुड़ा कर बस्ति प्रयोग करे। जब उचित समय पर यह उत्तर बस्ति न लौटे, तो फिर शोधक दवाओं से युक्त मूत्र निकालने वाला बस्ति प्रयोग करें अथवा शोधक द्रव्यों से युक्त फलवर्त्ति स्नेह लिप्त कर सूत से बांधकर योनिमार्ग में रखे; इससे बस्ति निकल आवेगा॥१५१-१५२॥

बस्तिदाहे कर्म—

दह्यमाने तथा बस्तौ दद्याद्बस्तिं विशारदः।
क्षीरिवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च॥ १५३॥

यदि उत्तर बस्ति के प्रयोग से पेड़ू में दाह या जलन पैदा हो जाय, तो पुनः दूध वाले वृक्षों के काढ़े अथवा शीतल जल का बस्ति देवे॥ १५३॥

उत्तरबस्तिग्रहणफलम्—

बस्तिः शुक्ररुजः पुसां स्त्रीणामार्त्तवजां रुजाम् ।
हन्यादुत्तरबस्तिस्तु नोचितो मेहिनां क्वचित् ॥ १५४ ॥

उत्तर बस्ति का प्रयोग पुरुषों का वीर्यसम्बन्धी दोष और स्त्रियों का ऋतुसम्बन्धी दोष को नष्ट करता है, पर यह प्रमेह वालों को कभी भी देना ठीक नहीं है ॥ १५४ ॥

सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च ।
बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहबस्तिना ॥ १५५ ॥

उत्तर बस्ति के सम्यक् योग, अतियोग, हीनयोग, मिथ्या-योग, उनसे होने वाले उपद्रव, उनकी सिद्धि आदि के लक्षण चिकित्सा प्रभृति सब अनुवासन बस्ति के ही समान जाने ॥ १५५ ॥

फलवर्त्तिः—

घृताभ्यक्ते गुदे देव्या श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा ।
मलप्रवर्त्तिनी वर्त्तिः फलवर्त्तिश्च सा स्मृता ॥ १५६ ॥

मल को प्रवर्त्तित करने या निकालने के लिये रोगी के अंगूठे जितनी मोटी चिकनी बत्ती गुदामें घी लगाकर प्रवेश करे। इसे फलवर्त्ति कहते है ॥ १५६ ॥

आनन्दसेनस्त्वाह,

बस्तिमात्रा यथा—

अनुवासनभेदश्च मात्राबस्तिरुदीरितः ।
पलार्द्धमुत्तरो बस्तिर्मात्राबस्तिः पलद्वयम् ॥ १५७ ॥
यापना स्नेहबस्तिश्च द्वावेतौ षट्पलान्वितौ ।
पिच्छाबस्तिर्भवेत् प्रस्थः पादोनः कीर्त्तितोऽपरः ॥१५८॥

अनुवासन का भेद ही मात्रा बस्ति कहलाता है। उत्तरबस्ति

की मात्रा अर्ध पल और मात्राबस्ति की मात्रा दो पल की है। यापना-बस्ति और स्नेह-बस्ति इन दोनों की मात्रा छः छः पल की है। पिच्छाबस्ति की मात्रा एक प्रस्थ और किसी किसी के मत से पौन प्रस्थ भी है। (जो बस्ति वातविकार की यापना याने दूर करने को प्रयुक्त होता है, उसे 'यापनाबस्ति' कहते हैं) ॥१५७-१५८॥

धूमपानविधिः,

धूमपानगुणमाह—

गौरवं शिरसः शूलं पीनसोऽर्द्धावभेदकः।
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः ॥१५९॥
दन्तदौर्बल्यमास्रावः श्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजः।
पूतिघ्राणस्य गन्धश्च दन्तशूलमरोचकम् ॥ १६० ॥
हनुमन्याग्रहः कण्डूः क्रिमयो मुखपाण्डुता।
श्लेष्मप्रसेको वैस्वर्य्यं गलगण्डाऽधिजिह्वके ॥१६१॥
खालित्यं पिञ्जरत्वञ्च केशानां पतनं तथा।
क्षवथुश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता ॥ १६२ ॥
धूमपानात् प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ॥१६३॥

सिर का भारीपन, शिरःशूल, पीनस, अधकपारी, कर्णशूल, नेत्रशूल, खांसी, हिचकी, श्वास, गलग्रह, दांतों की दुर्बलता, मुंह से पानी गिरना, कान के रोग, नाक के रोग, आंख के रोग, पूति-नस्य, मुख की दुर्गन्धि, दन्तशूल, अरुचि, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, कण्डू, सिर के कीड़े, मुख का पाण्डुर होना, कफका गिरना, स्वर का विगडना, गलगण्ड, अधिजिह्वा, गंजासिर, बालों का बदरंग होना, बालों का गिरना, छींक, तन्द्रा, बुद्धि का मोह, अधिक सोना, ये सब रोग धूमपान से शान्त हो जाते हैं और सिर का बल बढ़ता है॥

अकालपीतातिपीतयोर्दोषाः—

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्य्य-तृण्मूर्च्छामदमोहकृत् ।
धूमोऽकालेऽतिपीतो वा तत्र शीतो विधिर्मतः ॥१६४॥

यदि धूम अकाल में या अति पिया जाय तो रक्तपित्त, अन्धापन, बहरापन, तृष्णा, मूर्च्छा, मद और मोह पैदा हो जाते हैं। यदि ऐसा हो जाय तो शीत क्रिया करने से शान्ति होती है ॥ १६४ ॥

धूमः पित्तानिलौ कुर्य्यादवश्यायः कफानिलौ ॥१६५॥

धूम पित्त और वात को करता है और कुहरा कफ और वायु को बढ़ाता है ॥ १६५ ॥

धूमपानभेदाः—

प्रायौगिकः स्नैहिकश्च वैरेचनिक एव च ।
कासहारी वामनीयो धूमः पञ्चविधो मतः ॥ १६६ ॥

धूम पांच प्रकार का होता है—प्रायौगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक, कासहारी और वामनीय। (नित्य पीने का धूम प्रायौगिक है, स्वस्थ मनुष्य को स्निग्ध करने वाला स्नैहिक, दोषों को बाहर निकालने वाला वैरेचनिक, कण्टकारी आदि कास को दूर करने वाला कासहर और वमन कराने वाला वामनीय है) ॥ १६६ ॥

धूमपानविधिः—

वक्त्रेणैव वमेद्धूमं नस्तो वक्त्रेण वा पिबन् ॥१६७॥

चाहे नाक से पिया हो या मुख से धूम को बाहर निकालते समय मुख से ही निकाले ॥ १६७ ॥

उरःकण्ठगते दोषे वक्त्रेण धूममापिबेत् ।
नासया तु पिबेद्दोषे शिरोघ्राणाक्षिसंश्रये ॥ १६८ ॥

छाती और कण्ठ के रोग में धूम मुख से पीवे और सिर, नाक और आंख के रोगों में नाक से पीवे ॥ १६८ ॥

निषेधमाह—

योऽयं न पित्तरक्तार्त्ति-विरिक्तोदरमेहिषु ।
तिमिरोर्द्ध्वानिलाध्मान-रोहिणी-दत्तबस्तिषु ॥१६९॥
मत्स्यमद्यदधिक्षौद्रक्षीरस्नेहविषाशिषु ।
शिरस्यभिहते पाण्डुरोगे जागरिते निशि ॥ १७० ॥

रक्तपित्त वाला, जुलाब लिया हुआ, उदर, मेह, तिमिर, उदूर्ध्व-वात, आध्मान, रोहिणी, इन से युक्त, बस्ति लिया हुआ मछली, मद्य, दही, मधु, दूध, स्नेह और विष खाया हुआ, सिरके रोगी, पाण्डु-रोगी और रात में जागा हुआ, इन लोगों को धूमपान न करावे ॥

कवलगण्डूषधारणमाह,
यदाह शार्ङ्गधरः—

चतुर्विधः स्याद्गण्डूषः स्नैहिकः शमनस्तथा ।
शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तद्विधः ॥ १७१ ॥

गण्डूष या कुल्ला करना चार तरह का होता है—स्नैहिक, शमन, शोधन और रोपण । इसी भेद से कवल भी चार प्रकार का होता है ॥ १७१ ॥

स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः ।
पित्ते कट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे ॥ १७२ ॥
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे ।
चतुःप्रकारैर्गण्डूषः कवलश्चापि कीर्त्तितः ॥ १७३ ॥

स्नैहिक गण्डूष स्निग्ध और उष्ण होता है और वात रोग में दिया जाता है । शमन गण्डूष स्वादु और शीतल द्रव्यों से पित्त रोग में दिया जाता है । शोधन गण्डूष कड़वा, खट्टा और नमकीन द्रव्यों से कफ रोग में दिया जाता है । कसैले, तीक्ष्ण, मधुर, कड़वा

और उष्ण गण्डूष व्रण आदि की रोपण में दिया जाता है। इसी तरह भेद से कवलग्रह भी कहा जाता है ॥ १७२-१७३ ॥

गण्डूषकवलयोर्भेदः—

असञ्चारी मुखे पूर्णे गण्डूषः कवलश्चरः।
तत्र द्रवेण गण्डूषः कल्केन कवलः स्मृतः ॥ १७४ ॥

द्रव पदार्थ से मुख भर कर स्थिर रखना 'गण्डूष' कहलाता है और लुगदी दवा से मुख को कुछ अपूर्ण रख, मुख के अन्दर दवा को इधर उधर फिराना 'कवल' कहलाता है ॥ १७४ ॥

तयोर्मात्राः—

दद्याद् द्रवेषु चूर्णञ्च गण्डूषे कोलमात्रया।
कर्षप्रमाणः कल्कश्च कवले दीयते बुधैः ॥ १७५ ॥

गण्डूष के द्रव में चूर्ण का प्रक्षेप एक कोलभर देना चाहिये और कवल के लिये एक दफे में एक कर्षभर लुगदी लेवे ॥ १७५ ॥

तयोः कालादयः—

धार्यन्ते पञ्चमाद्वर्षाद्गण्डूषकवलादयः।
गण्डूषान् सुस्थितान् कुर्यात् स्विन्नभालगलाननः॥१७६॥
मनुष्यस्त्रीन् तथा पञ्च सप्त वा दोषनाशनान् ॥
कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत्।
नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत् तावद्गण्डूषधारणम् ॥ १७७ ॥

पांचवे वर्षसे गण्डूष और कवल आदि धारण कराने चाहिये। रोगनाशक गण्डूष छः, आठ, तीन, पांच या सात बार तक, जब तक कि तालु, गले और मुख पर पसीने न आ जायँ, जब तक मुख कफ से पूर्ण न हो जाय, दोषों का जबतक उच्छेद न हो जाय अथवा जब तक नाक और आंख से पानी न निकलने लगे, तब तक धारण करावे ॥ १७६-१७७ ॥

यस्यौषधस्य गण्डूषस्तस्यैव प्रतिसारणम् ।
कवलश्चापि तस्यैव ज्ञेयोऽत्र कुशलैर्नरैः ॥ १७८ ॥

जिस दवा का गण्डूष धारण किया जाता है उसी का प्रतिसारण और उसीका कवल भी धारण किया जाता है, ऐसा चतुर वैद्य जाने ॥

तयोर्हीनादियोगाः—

हीनयोगात् कफोत्क्लेशो रसाज्ञानारुची तथा ।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णाक्लमो भवेत् ॥१७६॥

इनका हीनयोग होने से कफ का उभड़ना, रसज्ञान का अभाव और अरुचि होती है और अतियोग होने से मुंहका पक जाना, मुंह सूखना, तृष्णा और क्लम, ये उपद्रव होते हैं ॥ १७९ ॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च गण्डूषे शुद्धिलक्षणम् ॥ १८० ॥

व्याधि का ह्रास, तृप्ति, मुख का निर्मलपन, मुख का हलका होना, और इन्द्रियों का प्रसन्न होना, ये गण्डूष से शुद्धि होने के लक्षण हैं ॥

अन्यच्च—

सुखं सञ्चार्य्यते या तु सा मात्रा कवले हिता ।
असञ्चार्य्या तु या मात्रा गण्डूषे सा प्रकीर्त्तिता ॥ १८१ ॥

जितनी लुगदी लेने से मुख में सुख से फिराया जा सके, उतनी मात्रा कवल ग्रहण में अच्छी है तथा जितनी मात्रा लेने से मुख भर जाय और दवा फिराया न जा सके, वह मात्रा गण्डूषधारण में हित है ॥

रक्तमोक्षणविधिः,

अतिरक्तस्रुतौ दोषः—

अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारुणा वानिलामयाः ॥ १८२ ॥

अधिक रक्त निकल जाय तो मृत्यु हो जाती है अथवा वायु से कठिन रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

विशुद्धरक्तपुरुषलक्षणम्—

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तिवेगम् ।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं प्रसन्नरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ १८३ ॥

जब शरीर का रंग प्रसन्न दिखाई दे, इन्द्रियां प्रसन्न हों और अपने अपने विषय को भली भांति ग्रहण करें, भोजन का पाक और पाखाना बिना कोई बाधा के होते रहें, पुरुष सुखी हो, पुष्ट हो और बलवान् हो, तो जाने कि इसका रक्त शुद्ध है ॥ ॥ १८३ ॥

तस्य प्रयोगादिकम्—

मर्म्महीने यथासन्न-प्रदेशे वेधयेच्छिराम् ।
न ह्यूनषोडशातीत-सप्तत्यर्व्वाक् स्रुतासृजाम् ॥ १८४ ॥

मर्महीन तथा व्याधि पीड़ित स्थान से नजदीक के स्थान पर फस्द खोले । सोलह वर्ष से कम और सत्तर वर्ष से अधिक उम्र वाले का रक्तमोक्षण न करावे ॥ १८४ ॥

अस्निग्धास्वेदितात्यर्थ-स्वेदितानिलरोगिणाम् ।
गर्भिणी-सूतिकाजीर्ण-पित्तास्रश्वासकासिनाम् । ॥ १८५ ॥
अतिसारोदरच्छर्दि-पाण्डुसर्व्वाङ्गशोषिणाम् ।
स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पञ्चसु कर्म्मसु ॥ १८६ ॥

जो स्निग्ध न हो, जो पसीना न लिया हो, जो अधिक पसीना ले लिया हो, जो वातरोगी हो, गर्भिणी, सूतिकारोगग्रस्ता, अजीर्ण वाला, रक्तपित्त रोगी, श्वास तथा कास-पीड़ित, अतिसार, उदर, वमन, पाण्डुरोगों से युक्त, सर्वाङ्ग सूखे हुए, स्नेह पीया हुआ और जिसने पञ्चकर्म कराये हो, इनकी सिरा न खोले ॥ १८५-१८६ ॥

नायन्त्रितां शिरां विध्येन्न तिर्य्यङ्नाप्यनुत्थिताम् ।
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्रात्यायिकाद्गदात् ॥ १८७ ॥

यदि रोग शीघ्रकारी वा मारात्मक न हो, तो अयन्त्रित, तिरछे

और बिना उठाये सिरा का अधिक शीत, उष्ण या वात से पीड़ित मनुष्य की सिरा का वेध न करे। कठिन रोगों में निषिद्ध काल-पात्र में भी खोले ॥ १८७ ॥

घृततैलमूर्च्छाविधिः,

घृतमूर्च्छाविधिः—

पथ्याधात्रीबिभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च
द्रव्यैरेतैः समस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दाऽनलेन ।
आज्यप्रस्थं विफेनं परिचलगतं मूर्च्छयेद्वैद्यराज-
स्तस्मादामोपदोषं हरति च सकलं वीर्य्यवत् सौख्यदायी ॥१८८॥

हरड़, आंवला, बहेड़ा, मोथा, हल्दी, बिजौरा नीबू का रस प्रत्येक द्रव्य एक पल लेवे । फिर एक प्रस्थ घी लेकर मन्दी मन्दी आंच के ऊपर रख कर गरम करे । जब घी पिघल जाय और उस में फेन आकर नष्ट हो जायँ, तब वैद्यराज ऊपर के सब द्रव्य उसमें डाल कर उतार लें और चलाते रहें । कुछ देर बाद छान कर रख लें। यह घी मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छित होने से घी का आमदोष दूर हो जाता है और वह पूर्ण वीर्य और सुखदायी हो जाता है॥ १८८ ॥

कटुतैलमूर्च्छाविधिः—

वयःस्थारजनीमुस्त-बिल्वदाडिमकेशरैः ।
कृष्णजीरकह्रीवेर-नलिकैः सबिभीतकैः ॥ १८९ ॥
एतैः समांशैः प्रस्थे च कर्षमात्रं प्रयोजयेत् ।
कटुतैलं पचेत् तेन आमदोषहरं परम् ॥ १९० ॥

हरड़, हलदी, मोथा, बेलगिरी, दाड़िम, नागकेसर, काला जीरा, सुगन्धवाला, नालुका और बहेड़ा, प्रत्येक एक कर्ष प्रमाण ले, एक प्रस्थ कड़ुए तेल में चार प्रस्थ जल के साथ मिला तैल पाक करे। इससे कटु तैल का आमदोष नष्ट हो जाता है ॥ १८९-१९० ॥

एरण्डतैलमूर्च्छाविधिः—

विकसामुस्तकं धान्यं त्रिफला वैजयन्तिका ।
ह्रीवेरघनखर्जूर-वटशुङ्गा-निशायुगम् ॥ १६१ ॥
नलिका भेषजं देयं केतकी च समं समम् ।
प्रस्थे देयं शाणमितं मूर्च्छने दधि काञ्जिकम् ॥ १६२ ॥

मजीठ, मोथा, धनियां, हरड़, बहेड़ा, आंवला, जयन्ती, सुगन्ध वाला, नागरमोथा, खजूर, वटशुंग, हल्दी, दारुहल्दी, नालुका, केतकी, प्रत्येक एक शाण प्रमाण लेकर पीस कर उससे एक प्रस्थ एरण्ड तैल, दही और काञ्जी के साथ पाक करे । इससे एरण्ड तैल मूर्च्छित हो जाता है ॥ १९१-१९२ ॥

तिलतैलमूर्च्छाविधिः—

कृत्वा तैलं कटाहे दृढतरविमले मन्दमन्दाऽनलैस्तत्
तैलं निष्फेनभावं गतमिह च यदा शैत्ययुक्तं तदैव ।
मञ्जिष्ठारात्रिलोध्रैर्जलधरनलिकैः सामलैः साक्षपथ्यैः
सूचीपुष्पाघ्रिनीरैरुपहितमथितैर्गन्धयोगं जहाति ॥ १६३ ॥
तैलस्येन्दुकलांशिकैकविकसाभागोऽपि मूर्च्छाविधौ
ये चान्ये त्रिफलापयोदरजनीह्रीवेरलोध्रान्विता
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याश्च पादांशिकाः
दुर्गन्धं विनिहन्ति तैलमरुणं सौरभ्यमाकुर्वते ॥ १६४ ॥

तेल को मजबूत, साफ लोहे की कढ़ाई में रख मन्दी आँच से गरम करे । जब फेन आकर मर जाय तब उतार कर कुछ ठण्डा होने पर हल्दी को कुछ जल में मिला कर डाले, फिर अन्यान्य द्रव्य भी इस तरह क्रम से डाले । मजीठ, हल्दी, लोध, मोथा, बालुका, बहेड़ा, हरड़, घीगुवार, केतकी तथा बड़ की जटा, इन के चूर्ण को जल के साथ मिला मथ कर घृत मूर्च्छा की विधि से

पकावे तो तिल-तेल अपना गन्ध छोड़ देता है । इस तैल मूर्च्छा में तेल का सोलहवां भाग मजीठ लेवे और त्रिफल, मोथा, हल्दी, बाला, लोध, केतकी, बड़ की जटा, नालुका, प्रत्येक मजीठ का चौथाई भाग लेकर तैल की मूर्च्छना करे, तो तेल अपनी दुर्गन्धि छोड़ कर सुगन्धित हो जाता है और रङ्ग लाल हो जाता है ॥

तैलमूर्च्छा—

पत्रं पञ्चरसैर्युक्तं दधिलाक्षासमन्वितम् ।
मूर्च्छनं कारयेत् प्राज्ञो गन्धवर्णं जहाति च ॥ १६५ ॥

पञ्च पत्रों के रस तथा दही और लाख साथ कोई भी तेल का मूर्च्छन करे । ऐसा करने से तेल का रङ्ग और खराब गन्ध दूर हो जाता है ॥ १९५ ॥

आम्रजम्बूकपित्थानां बीजपूरकबिल्वयोः ।
गन्धकर्म्मणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम् ॥ १६६ ॥

गन्ध पाक के काम के पहले पञ्च पल्लव के डाल से तेल को एक दफे पकाना पड़ता है । गन्ध कर्म में पञ्च पल्लव से आम, जामुन, कैथ, बिजोरा-नीबू और बेल, ये ही पांच पत्ते ग्रहण करे॥१९६॥

गन्धद्रव्यम्—

एलाचन्दनकुङ्कुमाऽगुरुमुराकक्कोलमांसीशटी ।
श्रीवासच्छदग्रन्थिपर्णशशभृत्क्षौणिध्वजोशीरकम् ।
कस्तूरीनखपूतिशैलजशुभामेथीलवङ्गादिकम् ।
गन्धद्रव्यमिदं प्रदेयमखिलं श्रीविष्णुतैलादिषु ॥ १६७ ॥

इलायची, चन्दन, केशर, अगुरु, मुरामांसी, कक्कोल, जटामांसी, कचूर, सफेद चन्दन, तेजपात, गठिवन, कर्पूर, लोमान, खस, कस्तूरी, नखी, पूति खटासी, गजपीपल, प्रियंगु फूल, मेथी

और लौंग आदि, ये सब गन्ध द्रव्य हैं । इन सब का उपयोग श्रीविष्णु तैल आदि के गन्ध-पाक में होता है ॥ १९७ ॥

अपरगन्धद्रव्यम्—

देवदारुसरलागुरुत्वचं तेजपत्रघनकुष्ठकुङ्कुमम् ।
ग्रन्थिपर्णिशटिकोग्रगन्धकं मांसिकासुनवखोटिकुन्दुरु ॥१९८॥
पूतिकं मधुरिकैलया नखी चन्दनं समपरं प्रियङ्गुकम् ।
मेथिकामदसुवास्यचम्पकं देवताडनलिकासपृक्कया ॥ १९९ ॥

देवदारु, धूप, अगुरु, तज, तेजपात, मोथा, कूट, केशर, गठिवन, कचूर, वच, जटामांसी, नख, कुन्दरु, गन्धमार्जार वीर्य, सोया, इलायची, नखी, चन्दन, फूल प्रियंगु, मेथी; कस्तूरी, सुवास चम्पक, देवताड़, नालुका और शीतलचीनी, ये भी सब गन्ध द्रव्य हैं ॥ १९८-१९९ ॥

कक्कोलकं कल्कसमानि तैले देयानि सर्वाणि सुगन्धिकानि ।
अन्यान्यशेषाणि हितानि वैद्यैर्वातापहारीणि सुयोजितानि॥२००॥

तेल में कक्कोल कल्क जितना डाले तथा अन्यान्य सुगन्ध भी इतना ही डाले । वात को नाश करने वाले अन्य सुगन्ध तथा हितकारी द्रव्य भी मिला देवे ॥ २०० ॥

ग्रन्थान्तरस्य—

तैलात् गन्धस्य पादार्द्धं दद्यात् तच्छास्त्रविद्भिषक् ।
केचिद् कल्कसमं मन्ये सर्वत्र गन्धकर्म्मणि ॥ २०१ ॥

शास्त्रको जानने वाला वैद्य गन्ध द्रव्य तेल का पदार्थ याने अष्टमांश डाले । कोई कोई गन्ध कर्म में सर्वत्र कल्क जितनी देने की राय देते हैं ॥ २०१ ॥

मतान्तरम्—

कुष्ठञ्च नालुका पूतिरुशीरं श्वेतचन्दनम् ।
जटामांसी तेजपत्रं नखी मृगमदः फलम् ॥ २०२ ॥
कक्कोलं कुङ्कमं चोचं लताकस्तूरिका वचा ।
सूक्ष्मैलाऽगुरु मुस्तञ्च कर्पूरं ग्रन्थिपर्णकम् ॥ २०३ ॥
श्रीवासः कुन्दुरुर्देवकुसुमं गन्धमातृका ।
सिह्लकं मिषिका मेथी भद्रमुस्तं शटी तथा ॥ २०४ ॥
जातीफलं शैलजञ्च देवदारु सजीरकम् ।
एतानि गन्धद्रव्याणि तैलपाकेषु युक्तितः ॥ २०५ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ।

—००)※(००—

कूट, नालुका, पूति खटाशी, खस, सफेद चन्दन, जटामांसी, तेज पत्र, नखी, कस्तूरी, कबाबचीनी, कक्कोल, केशर, तज, लता, कस्तूरी, वच, छोटी इलायची, अगुरु, मोथा, कपूर, गठिवन, सुगन्ध चन्दन, कुन्दरु, लवङ्ग, सरल, शिलारस, सौंफ, मेथी भद्रमोथा, कचूर, जायफल, गज-पीपल, देवदारु और जीरा, ये सब गन्ध द्रव्य हैं । इन्हें युक्तिपूर्वक तैलों के गन्ध-पाक में योग करे ॥ २०२-२०५ ॥

गुरुपादयुगं नत्वा प्रयागदत्तशर्मणा ।
समापिता समासेन प्रदीपस्य 'प्रदीपिका' ॥

इत्यायुर्वेदाचार्योत्कल-पण्डित श्रीप्रयागदत्त जोषिकृत-
परिभाषाप्रदीप-'प्रदीपिका' समाप्ता ।

